दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९२ तंत्री जगजीवन बाउचंद दोशी वर्ष २२ अंक नं० ६

आनंदभूमि नेमिनाथ

श्री पद्मप्रभ मुनिराज नेमिनाथ भगवान की स्तुति करते हैं:—

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः।
स्मरतिरसुरनाथः प्रास्तदुष्टाघयूथः।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमालीः।
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानंदभूमिः॥१३॥

जो सौ इन्द्रों से पूज्य हैं, जिनका सद्बोधरूपी (सम्यग्ज्ञानरूपी) राज्य विशाल है, कामविजयी (लौकांतिक) देवों के जो नाथ हैं, दुष्ट पापों के समूह का जिन्होंने नाश किया है, श्रीकृष्ण जिनके चरणों में नमे हैं, भव्य कमलों के जो सूर्य हैं, वे आनंदभूमि नेमिनाथ (आनंद के स्थानरूप श्री नेमिनाथ भगवान) हमें शाश्वत सुख दो। (—नियमसार)

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

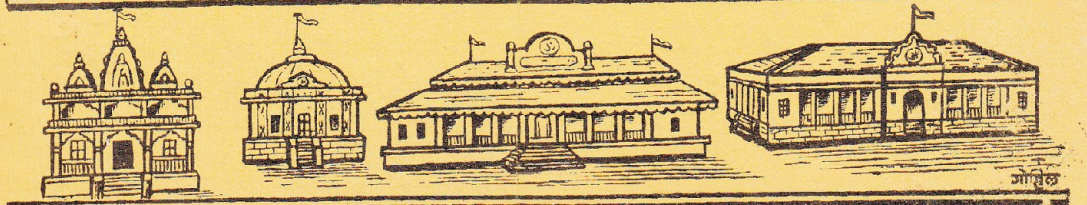

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अक्टूबर १९६६] वार्षिक मूल्य २) (२५८) एक अंक २५ पैसा [भाद्रपद सं० २०२३

विषय-सूची

१. आत्म साधक वीर बाहुबली
२. आराधना का महानपर्व पर्यूषण
३. भक्ति और भावना
४. ज्ञानस्वभाव
५. आत्मा का कार्य
६. जब समझें तभी उद्धार
७. जगत से भिन्न स्वानुभूतिगम्य आत्मा
८. प्रवचन वाटिका के चुने हुए पुष्प
९. योगीन्दु देव कृत योगसार पर स्वामीजी के प्रवचन
१०. अच्छी-अच्छी आठ बातें
११. मोक्षमार्ग दो नहीं हैं
१२. समाचार संग्रह

टेप रेकोर्डिंग द्वारा प्रवचन प्रचार

सोनगढ़ तारीख ११-९-६६ से प्रचारक श्री रमेशचंदजी मलकापुर, चीखली, ढसाला, नागपुर लाइन में गये हैं-साथ में टेपरील मशीन, तीर्थयात्रा की फिल्म, प्रोजेक्टर है, जैन दर्शन शिक्षण वर्ग-शास्त्रसभा, शंका समाधान करते हैं। बुलाने के लिये आमंत्रण आने पर क्रमशः भेजा जाता है।

पत्र व्यवहार—

टेप रील प्रचार विभाग दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

आजीवन सभ्य योजना

आत्मधर्म मासिक पत्र के हजारों की संख्या में ग्राहक हैं। पत्र ज्यादा से ज्यादा विकसित बने और उनके स्थायी ग्राहकों को हरसाल वार्षिक शुल्क भेजने का कष्ट न हो, संस्था को भी व्यवस्था में सुविधा रहे। अतः ऐसा निर्णय किया गया है कि- १०१) रुपये लेकर 'आजीवन सभ्य' योजना चालू की जाये, एवं उन्हें 'आत्मधर्म' हरसाल बिना वार्षिक शुल्क भेजा जाये। अतः जो सज्जन इस योजना से लाभ उठाना चाहें, वे निम्न पते पर १०१) रुपया भेजकर इस योजना में सहयोग प्रदान करें। यह योजना गुजराती तथा हिन्दी दोनों भाषाओं के 'आत्मधर्म' के लिये चालू की गई है। अभी इस योजना में नीचे लिखे सज्जन द्वारा स्वीकृति मिली है।

१००) श्री पंडित इंद्रचंदजी लील्हा, रामगढ़

पत्र व्यवहार का पता—

मैनेजर दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

: संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला)

अक्टूबर : १९६६ ☆ वर्ष २२वाँ, भाद्रपद वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ६

आत्मसाधक वीर बाहुबलि

भरत चक्रवर्ती के साथ होनेवाले त्रिविध युद्ध में बाहुबलि विजयी हुए; तब चक्रवर्ती ने क्रोध पूर्वक उन पर चक्र छोड़ा। वह भी निष्फल गया। उस प्रसंग पर बाहुबलि (समर्थ होने पर भी) वैराग्य को प्राप्त हुए और उत्तम क्षमा भाव धारण करके निजस्वरूप को साधने में तत्पर बने, भरत पर क्रोध का विकल्प भी उनको नहीं आया; मुनि होकर अडिगरूप से स्वरूप में सावधानी पूर्वक उत्तम क्षमा धर्म के आराधक बने।

क्रोध के सम्मुख क्रोध न करके वैराग्यरूपी बख्तर द्वारा उन्होंने अपने आत्मा की रक्षा की... उत्तम क्षमाभाव धारण करके क्रोध को जीत लिया और वैराग्यसहित वन में चले गये। रत्नत्रय की आराधना करके चैतन्य साधना में लीन हुए और केवलज्ञान प्रगट करके परमात्मा बन गये।—इसप्रकार अपने आत्मा का क्रोध से घात न होने दिया और उत्तम क्षमाधर्म की आराधनापूर्वक अचलरूप से आत्मसाधना पूर्ण करके परमात्मपद प्राप्त कर लिया।

उत्तम क्षमा धर्म के महान आदर्श उन आत्मसाधक
संत को नमस्कार हो!
हे प्रभो! हमें भी ऐसी आत्म-साधना प्रदान करो!

आराधना का महान पर्व
पर्यूषण

समस्त शक्ति से धर्म की उपासना का प्रतीकरूप महा पर्व अर्थात् पर्यूषण। धर्माराधन की जागृति देनेवाला यह पवित्र पर्व अनादि अकृत्रिम है। दीपावली पर्व, अक्षय तृतीया आदि पर्व तो किन्हीं महापुरुषों के जीवन-प्रसंगों से संबंधित हैं, परंतु नंदीश्वर-अष्टाह्निका का तथा दस लक्षण-पर्यूषण जैसे पर्व अनादि अकृत्रिम हैं। उनमें अष्टाह्निका पर्व जिनभक्ति प्रधन है और पर्यूषण पर्व आराधना प्रधान है। इन दिनों जैनमात्र में अनोखी जागृति आ जाती है। वही जागृत पर्व आजकल चल रहा है। ऐसे अवसर उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—इन वीतरागी धर्मों का स्वरूप जानकर, उनकी उत्तम आराधना की भावना हमारा कर्तव्य है।

श्री पद्मनंदिस्वामी कहते हैं कि—तीन लोक के स्वामी इन्द्रों से भी जो वंदनीय हैं—ऐसे इन उत्तम दस धर्मों का स्वरूप सुनकर उन्हें धारण करने का किसे उत्साह नहीं होगा? कौन उन्हें हर्ष सहित धारण नहीं करेगा? सर्व मोक्षार्थी जीव इन उत्तम धर्मों का स्वरूप सुनकर आनंदित होंगे और हर्ष सहित उनका पालन करेंगे। इन दस धर्मों की उत्तम आराधना मुनिदशा में होती है। मुनिदशा मोक्ष महल की सीढ़ी है; जिसके एक ओर वैराग्य तथा दूसरी ओर त्याग—इसप्रकार दोनों ओर दो सुंदर कटहरे लगे हैं, और दस धर्मरूपी दस विशाल सीढ़ियाँ हैं। मोक्ष महल में पहुँचने की भावनावाले पुरुषों को ऐसी सीढ़ी चढ़ने योग्य है... अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जो जीव ऐसे उत्तम क्षमादि भावरूप धर्मों की वैराग्यपूर्वक आराधना करता है, वह जीव मुक्ति प्राप्त करता है। अहो, मोक्षार्थी जीव को ऐसे दस धर्मों की आराधना के प्रति उत्साह जागृत होता है। धन्य हैं वे उत्तम क्षमावान मुनिवर कि जिन्हें घोर उपसर्ग करनेवालों के प्रति भी क्रोध की वृत्ति नहीं उठती और जो रत्नत्रय की आराधना से च्युत नहीं होते। ऐसे वीतरागी धर्मों की महिमा सुनकर जगत के जीव हर्षित होंगे; सर्व जीवों को चैतन्य स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित उत्तम मुनिधर्म की आकांक्षा होगी।

आत्मा का स्वभाव चेतना है; और उस चेतना का निर्विकाररूप से परिणमित होना, सो

धर्म है। जितने अंश में चेतना निर्विकाररूप (रागरहित) परिणमित हो, उतना धर्म है, और उतना ही मोक्षमार्ग है। रागरहित चेतना परिणाम में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा उत्तम क्षमादिक समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है। आत्मा क्रोधादि कषायभावोंरूप परिणमित न हो और अपने स्वभाव में स्थिर रहकर वीतरागभावरूप परिणमित हो—वह उत्तम क्षमादि धर्म है। पहले अनंतानुबंधी क्रोध का अभाव करने से पूर्व उत्तमक्षमादि धर्मों की आराधना अंशमात्र नहीं हो सकती। इसप्रकार उत्तमक्षमादि धर्मों का मूल सम्यग्दर्शन है ('दंसणमूलो धम्मो'—यह कुन्दकुन्द स्वामी का सूत्र है।)

प्रश्न—उत्तमक्षमादि दस धर्म तो मुनियों के धर्म हैं; उनसे हमें श्रावकों को क्या ?

उत्तर—उत्तमक्षमादि दस धर्मों की उत्कृष्ट आराधना मुनिवरों को होती है—यह ठीक है, परंतु श्रावक धर्मात्मा को भी उन धर्मों की आराधना अंशत: होती है। शास्त्र में कहते हैं कि जितने मुनियों के धर्म हैं, वे सब धर्म आंशिकरूप से श्रावकों के भी होते हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक अनंतानुबंधी क्रोधादि का जितना अभाव हुआ और जितना वीतरागभाव प्रगट हुआ, उतना धर्म है तथा वह मोक्ष का कारण है। इसलिये श्रावक को भी उत्तमक्षमादि धर्मों का स्वरूप जानकर उसकी आराधना की भावना करनी चाहिये।

उत्तमक्षमादि दस धर्मों का स्वरूप संक्षेप में इसप्रकार है—

(१) किसी भी जीव द्वारा वध, बंधन, निंदा आदि उपद्रव होने पर भी अपनी चैतन्य भावना में लीनता से ऐसा वीतरागभाव रहना कि क्रोध परिणामों की उत्पत्ति ही न हो, उसका नाम उत्तमक्षमा है। मोक्षमार्ग के पथिक संतों के लिये यह उत्तमक्षमा सच्ची सहायक है अर्थात् वह साधक की सहचरी है। क्रोध की उत्पत्ति अपने साधकभाव में बाधक है—ऐसा समझकर उसे दूर से ही छोड़ना चाहिये।

(२) शरीरादि से भिन्न अपना आत्मा ही जगत में सर्वोत्तम पदार्थ है—ऐसा जानकर देहाश्रित किसी वस्तु का—रूप, बल, जाति आदि का अथवा ज्ञानादि का भी मद न होना—ऐसे वीतरागभाव को उत्तम मार्दव धर्म कहते हैं।

[—यह ध्यान में रखना चाहिये कि एक वीतरागभाव में दसों धर्मों का समावेश हो जाता है; और वीतरागभाव के बिना एक भी धर्म नहीं होता।]

(३) परमार्थत: आत्मा के ज्ञानभाव में विकार का होना ही वक्रता है; आत्मा के ज्ञान

की ऐसी आराधना प्रगट हो कि शरीर जाने का प्रसंग आये, तथापि हृदय में मायाचार या कपटभाव न हो और अपने रत्नत्रय में लगे हुए दोष गुरु के निकट सरलता से प्रगट करके उन दोषों को दूर करे—उसका नाम उत्तम आर्जवधर्म है।

(४) भेदज्ञान की भावना के बल से शरीरादि परद्रव्यों के प्रति स्पृहारूप मलिनता जिसके नहीं है और रत्नत्रय की पवित्र आराधना में जो सदा तत्पर है, उसे उत्तम शौचधर्म है।

(५) सत्‌रूप ऐसा जो ज्ञानस्वभाव, उसे साधने में जो तत्पर है और कभी वचन बोले तो वह वस्तुस्वभाव के अनुसार तथा जिनवाणी के अनुसार स्व-पर हितकारी सत्य वचन ही बोलता है—असत्य वचन बोलने की वृत्ति ही नहीं होती; सत्य वस्तुस्वभाव को जो जानता है, उसी को ऐसे सत्यधर्म की आराधना होती है।

(६) संसार में मनुष्यत्व दुर्लभ हे, परंतु संयमरूप मुनिदशा तो उत्तरोत्तर अतीव दुर्लभ है। सम्यग्दृष्टि को भी संयमधर्म की भावना बनी रहती है। चैतन्य में लीनता से ऐसा अकषायभाव प्रगट हो कि इन्द्रियविषयों के प्रति झुकाव ही न हो, तथा किसी भी प्राणी को दुःख देने की वृत्ति ही न हो, समिति-गुप्ति का पालन हो, वहाँ संयम धर्म होता है।

(७) विषय-कषायरूपी चोरों से अपने रत्नत्रयरूपी धन का बचाने के लिये तपरूपी योद्धा रक्षक समान है। चाहे जैसा उपद्रव आये, तथापि अपने चैतन्य के चिंतन से च्युत न होना और विषय-कषायों में उपयोग न जाना, वह उत्तमतप है। अहा, मुनियों के रत्नत्रय की रक्षा करनेवाला यह तप परमानंद को देनेवाला है।

(८) आत्मा का जो ज्ञानभाव है, वह परभाव के त्यागस्वरूप ही है; 'मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ, शरीरादि कुछ भी मेरा नहीं है'—इसप्रकार सर्वत्र ममत्व के त्यागरूप परिणाम से चैतन्य में लीन होकर मुनिराज उत्तम त्यागधर्म की आराधना करते हैं। सम्यक्‌श्रुत का व्याख्यान करना तथा बहुमानपूर्वक साधर्मियों को पुस्तक, स्थान आदि देना, वह भी त्यागधर्म का प्रकार है।

(९) 'एक शुद्धचैतन्य ही मेरा है, उससे भिन्न कुछ भी मेरा नहीं है'—ऐसा जानकर चैतन्य भावना के बल से देहादि समस्त परद्रव्यों के प्रति ममत्व परिणाम का परित्याग-वही उत्तम अकिंचन्यधर्म है।

(१०) मेरा सुख मेरे अतीन्द्रिय आत्मा में ही है, स्त्री-शरीरादि किन्हीं भी बाह्य विषयों

में मेरा सुख नहीं है—ऐसी विशुद्धमति के बल से ऐसे निर्विकार परिणाम हो जायें कि स्त्री आदि को देखकर या देवी द्वारा ललचाये जाने पर भी विकार की वृत्ति ही न हो; स्त्री को देखकर माता, बहिन या पुत्रीवत् निर्विकारभावना रहे—उसी को सच्चे ब्रह्मचर्य धर्म की आराधना होती है।

—इसप्रकार उत्तमक्षमादि दस धर्मों की उत्कृष्ट आराधना बतलायी। यहाँ ऐसा नहीं समझना कि—इन धर्मों की आराधना मात्र पर्यूषण पर्व के दिनों में होती है, परंतु सदैव इन धर्मों की आराधना हो सकती है। इन धर्मों की आराधनारूप वीतरागभाव जिन्होंने प्रगट किया, उनके आत्मा में सदा पर्यूषण ही है; वे प्रतिक्षण धर्म की उपासना कर ही रहे है।

—ऐसे धर्म के उपासक संत-मुनिवरों के चरण में भक्ति सहित शत-शत प्रणाम!

उत्तम क्षमादि वीतरागी धर्मों का स्वरूप दर्शानेवाला जिनशासन जयवंत हो!

वीतराग धर्म की परि-उपासना प्रेरक दसलक्षणी पर्यूषण पर्व जगत को मंगलरूप हो!

भक्ति और भावना

[प्रस्तुत भक्ति एवं भावना का एक सुंदर समन्वय है।]

आत्मस्वरूप के स्मरण हेतु निर्विकारी का गुणानुवाद भक्ति है और निर्विकारदशा की प्राप्ति के लिये विकल्प की आवृत्ति भावना है। विशुद्ध प्रयोजनप्रेरित भक्ति एवं भावना दोनों ही मुक्ति के निमित्त हैं।

'भक्तामर' एक उत्कृष्ट भक्ति-काव्य है। इसे जैनेतर बंधु भी स्वीकार करते हैं किंतु भक्तामर के प्रत्येक काव्य के साथ एक-एक मंत्र और उनके साथ एक-एक आकांक्षा गुंफित करके आज भक्तामर को सर्वथा लौकिक रूप प्रदान कर दिया गया है। यह वास्तव में भक्तामर, उसके प्रणेता एवं भक्तिनायक वीतरागी भगवान के स्वरूप का विस्मरण है।

भक्ति स्वयं मुक्ति नहीं किंतु उसका प्रयोजन मुक्ति है। इस महान भक्ति काव्य का एक अनुवाद कुछ भावों की नवीनतापूर्वक प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके साथ कुछ उपयोगी पाठ भी इस संग्रह में समाविष्ट किये गये हैं। आशा है यह संग्रह भाव-विशुद्धि के लिये परम उपयोगी होगी। ज्ञानचंद्र (कोटा, राजस्थान)

श्री आदिनाथ स्तवन

प्रणमि प्रथम जिन-पद-युगसम्यक्,
भवदधि पड़े त्रसित को पोत।
नत सुर-मुकुट-सुमणि-उद्योतक,
हर्ता पाप-तिमिर के ओघ॥१॥
निज सुबुद्धि-बल सकल शास्त्र पटु,
अमर लोक-पति स्तवन करें।
त्रिजग चित्तहर विस्तृत स्तुति से,
निश्चय स्तवूं आदि जिन मैं॥२॥
बुधजन निश्चल पद लख पूजें,
मैं अशक्त मति बिन उचरूं।
मनुज नहीं शिशु ही यह चाहे,
जलस्थित-शशि कर में पकडूं॥३॥
शशि सम गुणनिधि के गुण कहने,
नहिं समर्थ सुर-गुरु के शब्द।
उदधि प्रलय पव-क्षुब्ध मच्छयुत,
भुज बल तिरवे कौन समर्थ॥४॥
शक्ति बिना तव स्तवन भक्ति वश,
करने उद्यत हुआ मुनीश।
हरि सन्मुख मृगि शिशु-हित जाती,
बिन शोधे निज बल है प्रीत॥५॥
हँसें सुधी मम बाल बुद्धि पर,
पर तव भक्ति-विवश बोलूं।
मधु-ऋतु मधुर वचन ज्यों कहती,
कोकिल, आम्र मोर को लूं॥६॥
भव भव किये पाप क्षण में क्षय,
करें स्तवन तब से प्राणी।
ज्यों अलि-सम तम हरे शीघ्र रवि,
जग से नशे निशा काली॥७॥
जानूं नाथ अल्प बुद्धि हूं,
है तव बल तव स्तुति प्रारंभ।
उदक-बिन्दु जिम जन-मन हरती,
दिख मुक्ता पंकज-दल संग॥८॥
दूर रहे स्तुति-सकल दोष-हर,
अरे! कथा ही हरती पाप।
रवि तो दूर प्रभा ही करती,
पद्माकर में पद्म विकास॥९॥
क्या आश्चर्य प्रभो जग भूषण,
तव-स्तुति-कर्ता हो तव-तुल्य।
आश्रित को निज सम न करे तो,
क्या है जग में उसका मूल्य॥१०॥

हो अनिमेष विलोके तुम को,
तोष मिले नहिं अन्य स्थान।
शशि सम उज्ज्वल क्षीर नीर पी,
कौन करे लवणोदधि पान॥११॥
पावन शांति-मयी अणु से तव-
तन निर्मित त्रिभुवन शृंगार।
अणु इतने ही थे जिससे नहिं,
अन्य मिलें भू-पर आकार॥१२॥
कहाँ उरग-सुर-नर-मन-हर तव-
मुख जग-विजयी शांत अनूप।
कहाँ कलंकित मलिन बिम्ब शशि,
ढाक-पत्र सम दिन में रूप॥१३॥
धवल पूर्ण शशि कला सदृश तव,
तीन भुवन में सुगुण प्रसार।
त्रिजग ईश आश्रित का रोके,
कौन यथेष्ट विश्व संचार॥१४॥
हर न सकी तव-मन सुरांगना,
इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।
चलता अचल प्रलय मारुत से,
पर सुमेरु का शिखर नहीं॥१५॥
धूम्र तेल बाती बिन त्रय जग,
करते आलोकित हैं आप।
अचल चलित कर पवन गम्य नहिं,
अद्‌भुत तवद्युति जगत प्रकाश॥१६॥
नहीं अस्त नहिं राहु गम्य तुम-
दर्शाते युगपत् जग तीन।
अम्बुद दल नहिं रोक सके द्युति,
प्रभु ने रवि महिमा ली छीन॥१७॥
सदा उदित तम-मोह निवारे,
नहीं राहु नहिं वारिद-गम्य।
तुम मुख-कमल प्रचुर शोभा-युत,
है अपूर्व शशि जग में धन्य॥१८॥
दिन में रवि निशि में शशि से क्या,
जब तुम मुख-शशि तम-हर नाथ।
शालि खेत में उपज चुके तब,
सजल जलद का व्यर्थ प्रयास॥१९॥
अचल ज्ञान तुममें जो शोभित,
नहिं हरि-हर-नायक में नाथ।
तेज प्रकाश प्रगट मणि में जो,
हो नहिं काच खंड के साथ॥२०॥
हरि-हर-दर्शन भला जिन्हें लख,
पाता मन तुझ में संतोष।
तुझे देख क्या परभव में भी,
कहीं अन्य स्थल होगा तोष?॥२१॥
जनें नारि शत-शत सुत शतशः,
पर नहिं जनती सुत तुमसा।
सर्व दिशा नक्षत्र जनें पर,
तम-हर रवि तो पूर्व दिशा॥२२॥
तुम्हें मानते परम पुरुष मुनि,
तम-हर निर्मल सूर्य स्वरूप।
पाकर तुम्हें मृत्यु-भय जीतें,
तुम मुनीश शिव-मार्ग अनूप॥२३॥

कहें संत अव्यय, असंख्य, बिभु,
ब्रह्म, एक, योगीश, अनंत।
विमल, अनेक, योग-विदु, ज्ञानी,
आद्य-ईश, कामघ्न-अचिंत॥२४॥
तुम हो बुद्ध विबुध-पूजित धी,
तुम शंकर जग सुख-दाता।
तुम्हीं विधाता शिव-पथ-विधि-दा,
तुम पुरुषोत्तम जग-ज्ञाता॥२५॥
त्रिजग आर्तिहर तुम्हें वंदना,
निर्मल भू-भूषण वंदन।
वंदन त्रयजग परम ईश हे!
भवदधि-शोषक जिन वंदन॥२६॥
विस्मय क्या तव-शरण सर्वगुण,
स्थान उन्हें नहिं मिला कहीं।
और विविध आश्रय से गर्वित,
आये दोष समीप नहीं॥२७॥
तरु अशोक तल प्रभायुक्त तन,
शोभित यों अति स्वच्छ मुनीश।
नष्ट-तिमिर विस्तृत किरणावलि-
जैसे सूर्य पयोद समीप॥२८॥
सिंहासन मणि-किरण-प्रभा युत,
तिस पर तुम प्रभु स्वर्ण-स्वरूप।
शोभित अंतरिक्ष जिम सौहै,
उदयाचल पर सूर्य अनूप॥२९॥
स्वच्छ-चलित-चामर की शोभा,
तब सुवर्ण-द्युति से सोहै।
ज्यों शशि सम निर्मल जल-धारा,
स्वर्ण-गिरि-तट मन मौहै॥३०॥
चंद्र-कांति समतीन छत्र द्युति
रोक रही है सूर्य-प्रताप।
मुक्ता की लड़ियों से शोभित,
तीन लोक ईश्वर प्रख्यात॥३१॥
विस्तृत शब्द भरे चहुं दिशि में,
जग-जन के शुभ सगम-हेत।
धर्म-राज्य की विजय घोषणा,
दुंदुभि नभ में ध्वनि से देत॥३२॥
गंधोदक की बूंदों से युत,
बहता मंगल मंद समीर।
नभ से गिरते पुष्प उर्ध्व मुख,
त्यों तव-वचन दिव्य गंभीर॥३३॥
तव प्रभाव-मंडल अति सुंदर,
तीन लोक की प्रभा हरे।
रविगण सम पर नहिं आतपयुत,
निश में शशि द्युति शीत हरे॥३४॥
इष्ट स्वर्ग अपवर्ग मार्ग हित,
विश्व-धर्म कहने में स्पष्ट।
विशद अर्थ युत् दिव्य ध्वनि का,
गुण-पर्याय प्रकाशन इष्ट॥३५॥
स्वर्ण-पद्म-नव-दल की द्युति सी,
किरणें लख सुंदर चहुं ओर।
मनहर पद्म रचाते पद पद,
सुरगण जिन-पद-पंकज ठोर॥३६॥

यह विभूति तब अदभुत जिनवर,
धर्म-देशना-स्थल पर इष्ट।
नहीं अन्य, पर रवि ही तमहर,
तारा द्युति तम करे न नष्ट॥३७॥
मद से गाल भरे चल मैं,
भ्रमर नाद सुन क्रोध ले जगे।
हो प्रमत्त ऐसा गज सम्मुख,
भय भागे तव शरण लगे॥३८॥
रक्त रंगे स्थल से मुक्ता ले,
गज-सिर चीर करे भू श्वेत।
वा छलांग भरते हरि के कर,
रुके शरण प्रभु तेरी देख॥३९॥
प्रलय काल पवनोद्धत वह्नि,
ज्वलित उडें उज्ज्वल फुल्लिंग।
वह दावाग्नि विश्व-विनाशक,
नाम स्मरण से बुझे तुरंत॥४०॥
रक्त-नयन पिक-सम रंग काला,
क्रोध भरा फण हो विष संग।
अंतरंग तव नाम बसा हो,
पद से लांघे उसे निशंक॥४१॥
लड़ें अश्व, गज घन-गर्जन-युत,
अंधकार सेना दल से।
ऐसे घोर युद्ध का भी भय,
विघटे नाम स्मरण बल से॥४२॥
गज-सिर-रक्त-धार भाले बल,
बहे, व्यग्र तिरने को वीर।
ऐसे दुर्जय रण का भय भी,
हत हो तब पद पंकज तीर॥४३॥
जलनिधि नक्र चक्र से क्षोभित,
भयंकर बड़वानल विकराल।
उस तरंग में नाम स्मरण से,
चले पोत भय बिन तत्काल॥४४॥
विकट उदर-जल-श्रोत पीड दे,
चिंतातुर, नहिं जीवन-आश।
पा पियूष-प्रभु-पद-पंकज-रज,
स्वर्ण रूप मनु होकर नाश॥४५॥
बेड़ी जकड़ी गल से पद तक,
रगड़ जघन छेदे, नहिं अंत।
तेरे स्मरण-मंत्र-बल-मानव,
सहज मुक्त हो हो भय अन्त॥४६॥
मत्त गजेन्द्र, सिंह, अग्नि, अहि,
युद्ध, जलधि, व्याधि, बंधन।
हों इनके भय शीघ्र पलायन,
जब तव स्तवन सहित मंथन॥४७॥
स्तवन माल जिनगुण से गुंथित,
युत रुचि वर्ण सुमन भक्ति।
धरे कंठ भवि माल सदा वह,
मानतुंग ले शिव लक्ष्मी॥४८॥

ज्ञानस्वभाव

[श्री 'युगल' एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा]

ज्ञान आत्मा का सार्वकालिक स्वभाव है, वह आत्मा की एक असाधारण शक्ति तथा लक्षण भी है। अनंत जड़ चेतन तत्त्वों के समुदाय इस विश्व में ज्ञान से ही चेतन की भिन्न पहिचान होती है। वह आत्मा का एक प्रमुख गुण है जो विश्व का सविशेष सार्वकालिक प्रतिभासन करता है। आत्मा के अनंत गुण तथा धर्म भी ज्ञान में ही प्रतिबिंबित होते हैं, मानों ज्ञान में ही आत्मा का सर्वस्व समा रहा हो।

ज्ञानप्रवाद पूर्व के सारांश श्री समयसार परमागम में आत्मा को ज्ञानमात्र ही कहा है। लोक में भी किसी एक ऐसी विशेषता की अपेक्षा किसी व्यक्ति को संबोधित करने की पद्धति है कि जो उसका संपूर्ण प्रतिनिधित्व कर सके। जैसे किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के नाम से संबोधित करते हैं। न्यायाधीशत्व उसकी एक ऐसी विशेषता है जिससे वह सब मनुष्यों से भिन्न पहिचाना जाता है। यद्यपि उसमें अन्य सामान्य मनुष्यों जैसी तथा व्यक्तिगत अपनी अनेक विशेषताएँ भी हैं। वह केवल न्यायाधीश ही नहीं है किंतु न्यायाधीश संज्ञा में उसका संपूर्ण सामान्य-विशेष व्यक्तित्व गर्भित हो जाता है। अत: न्यायाधीश शब्द उसका संपूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् वह व्यक्ति जितना कुछ है, वह सब न्यायाधीशत्व में समवेत है। इसीप्रकार ज्ञान आत्मा के अनंत गुण धर्मों के समान यद्यपि आत्मा का एक गुण विशेष ही है किंतु उसके बिना आत्मा पहिचाना ही नहीं जा सकता। ज्ञान का व्यापार प्रगट अनुभव में आता है। अन्य शक्तियों में यह विशेषता नहीं है। अत: 'उपयोगो लक्षणम्' की छाया में अनंत पदार्थों के समुदाय इस घुलेमिले से विश्व में ज्ञान से ही आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व सिद्ध होता है। न केवल आत्मा, वरन जगत के अस्तित्व की सिद्धि भी ज्ञान ही करता है। ज्ञान जगत के निगूढ़त्तम रहस्यों का उद्घाटन करता है। अत: ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है और उसके बिना विश्व में आत्म-संज्ञक किसी चेतनतत्त्व की कल्पना ही व्यर्थ है। ज्ञान के स्वभाव को

हृदयंगम कर लेने पर संपूर्ण आत्मस्वभाव की समझ ही सुलभ हो जाती है। अत: मनीषी ऋषि कुन्दकुन्द ने अपने समयसार परमागम में आत्मा को ज्ञानमात्र ही कहा है। ज्ञानमात्र कहने में आत्मा का मात्र ज्ञानगुण नहीं, वरन अनंत गुण धर्मों के समुदाय एक अखंड ज्ञायक आत्मा की ही प्रतीति होती है। ज्ञान की स्मृतिमात्र में ही अखंड चेतनतत्त्व अपनी अनंत विभूतियों के साथ दृष्टि में आता है। ज्ञान के एक क्षण के परिणमन को देखिये, उसमें आत्मा का सर्वस्व ही परिणमित है। अत: आत्मा मानों ज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं। इसप्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में ज्ञान आत्मा ही है।

यह ज्ञान आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव है। जो स्वभाव त्रैकालिक होता है, उसका वस्तु से कभी व्यय नहीं होता। और वस्तु की भाँति वह सदा पूर्ण, अखंड और शुद्ध होता है। वस्तु उस स्वभाव की ही बनी होती है। अत: वह कभी उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है। उष्णता से रहित अग्नि कोई वस्तु ही नहीं है। अत: उष्णता अग्नि का सर्वस्व ही है।

ज्ञान का स्वभाव जानना अर्थात् वस्तु का सर्वांग प्रतिभासन करना है। क्योंकि स्वभाव असहाय, अकृत्रिम एवं निरपेक्ष होता है। अत: ज्ञान भी जगत से पूर्ण निरपेक्ष एवं असहाय रहकर अपना अनादि-अनंत जानने का व्यापार करता रहता है। अपने जानने के कार्य के संपादन हेतु ज्ञान को जगत से कुछ भी आदान-प्रदान नहीं करना पड़ता। दर्पण के समान ज्ञान की वस्तु को जानने की रीति यह है कि वह सदा अपने एक रूप अखंड स्वरूप को सुरक्षित रखकर ज्ञेयाकार परिणत होता रहता है। ज्ञेयाकार परिणति ज्ञान का विशेष भाव है और उस ज्ञेयाकार परिणति में ज्ञानत्व का अन्वय उसका सामान्यभाव है। जैसे दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वस्तुओं को अपने में प्रतिबिंबित करता है। दर्पण में वस्तुओं के अनेक आकार -प्रकार बनते-बिगड़ते रहते हैं किंतु दर्पण प्रत्येक परिवर्तन में अक्षुण्ण रहता है। वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार के संगठन एवं विधान में दर्पण की एकरूपता अप्रभावित रहती है। साथ ही उन आकार-प्रकारों से दर्पण की स्वच्छता को आंच नहीं आती। जैसे दर्पण में अग्नि प्रतिबिंबित होती है किंतु दर्पण में अग्नि के प्रतिबिंब से न तो दर्पण टूटता ही है और न गर्म ही होता है क्योंकि दर्पण में ही अग्नि दिखाई देती है, वह साक्षात् अग्नि नहीं वरन् वह तो दर्पण की अपनी अग्नि है। वह दर्पण की अपनी पर्याय है। अत: वस्तुत: वह दर्पण ही है। दर्पण में

प्रतिबिंबित अग्नि की रचना के नियामक उपादान दर्पण के अपने स्वतंत्र हैं। अपनी अग्नि की रचना में दर्पण ने बाह्य अग्नि से कुछ भी सहयोग नहीं लिया है। यह अग्नि दर्पण की अपनी स्वतंत्र सृष्टि एवं सम्पत्ति है। दर्पण की अग्नि का आकार बाह्य अग्नि तुल्य होते हुए भी बाह्य अग्नि इसमें रंच भी कारण नहीं है। तथा बाहर अग्नि जल रही है, इसलिये दर्पण में अग्नि प्रतिबिंबित हो रही है, यह भी नितांत असत्य है। यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाये वस्तुओं को प्रतिबिंबित करना दर्पण का स्वभाव नहीं रह जायेगा। अग्नि का स्वभाव अग्नि सापेक्ष होकर 'स्वभाव' संज्ञा को खो देगा। वस्तुत: दर्पण के स्वच्छ स्वभाव में यदि अग्न्याकार परिणमन की शक्ति और योग्यता न हो तो सारा विश्व मिलकर भी उसे अग्न्याकार नहीं कर सकता। और यदि स्वयं दर्पण में अग्न्याकार होने की शक्ति एवं योग्यता है तो फिर उसे अग्नि की क्या अपेक्षा है ? जो शक्ति शून्य है, उसे शक्ति नहीं दी जा सकती और जो शक्तिमय है, उसे अपनी शक्ति के प्रयोग में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। जगत की कोई भी वस्तु पर सापेक्ष रहकर अपना अस्तित्व नहीं रख सकती। यदि दर्पण में प्रतिबिंबित अग्नि का कारण बाह्य अग्नि है तो पाषाण में भी अग्नि प्रतिबिंबित होनी चाहिये। किंतु ऐसा नहीं होता। अत: अपनी अग्नि की रचना की संपूर्ण सामग्री दर्पण के अपने अक्षय कोष में ही पड़ी है, उसे किसी से कुछ उधार नहीं लेना पड़ता। इस चर्चा में ऐसा तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि यदि बाह्य अग्नि दर्पणाग्नि का कारण नहीं है और दर्पण में उस समय अग्न्याकार परिणमन की स्वतंत्र योग्यता है तो फिर जब अग्नि न हो, तब भी दर्पण का अग्न्याकार परिणाम होना चाहिये अथवा अग्नि की समक्षता में भी दर्पण में अग्नि प्रतिभासित न होकर कुछ अन्य प्रतिभासन होना चाहिये। विचित्र तर्क है–जो दर्पण के स्वभाव की स्वतंत्रता पर एक सीधा प्रहार है। यदि दर्पण के समक्ष अग्नि हो और वह वैसी की वैसी दर्पण में प्रतिबिंबित न हो तो फिर हम दर्पण किस वस्तु को कहेंगे। वस्तु जैसी हो, वैसी ही उसे प्रतिबिंबित करे, उसे ही तो दर्पण कहते हैं। पुन: यदि अग्नि के अभाव में भी दर्पण में अग्नि प्रतिबिंबित हो अथवा अग्नि की समक्षता में दर्पण में अग्नि के स्थान पर घट प्रतिबिंबित हो तो दर्पण की प्रामाणिकता ही क्या कहलायेगी ? अत: अग्नि का भी होना और दर्पण में भी सांगोपांग वही प्रतिबिंबित होना यही वस्तुस्थिति है और यही वस्तु स्वभाव गत अनादि निधन नियम भी है। इसमें पारस्परिक कारण–कार्य भाव से उत्पन्न किसी परतंत्रता अथवा सापेक्षता के लिये रंच भी अवकाश नहीं है। इसप्रकार दर्पण और उसका अग्न्याकार अग्नि से सर्वथा पृथक् तथा निर्लिप्त ही रह जाता है।

दर्पण के समान ज्ञान भी ज्ञेय से अत्यंत निरपेक्ष रहकर अपने ज्ञेयाकार का उत्पाद-व्यय करता है। ज्ञान के इस ज्ञेयकार को ज्ञान का 'अतत्' स्वभाव कहते हैं। और अनेक ज्ञेयों के आकार परिणमित होकर भी प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञानत्व की धारावाहिकता कभी भंग नहीं होती। अर्थात् ज्ञान का प्रत्येक ज्ञेयाकार परिणाम ज्ञान सामान्य का अन्वय अखंड तथा अपरिवर्तित है। ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान ही प्रतिध्वनित होता है, इसे आगम में ज्ञान का 'तत्' स्वभाव कहा है। अपने में अनंत लोकालोक रूप चित्र-विचित्र ज्ञेयाकार नियत समय में उत्पादन करने में ज्ञान अत्यंत स्वतंत्र है। इसमें उसे लोकालोक की कोई अपेक्षा नहीं है। न उसे लोक से कुछ लेना पड़ता है और न कुछ देना पड़ता है। ज्ञान में जो लोकालोक प्रतिबिंबित होता है, ज्ञान के उस ज्ञेयाकार की रचना ज्ञान की उपादान सामग्री से होती है। लोकालोक रूप निमित्त की उसमें रंच भी कारणता नहीं है। अतः ज्ञान लोकालोक को जानता है, यह कथन व्यवहार ही है; वास्तव में ज्ञान ज्ञेयोन्मुख न होकर स्वतंत्र रूप से अपने ज्ञेयाकारों को ही जानता है। जैसे हम किसी अट्टालिका की कल्पना करते हैं। अट्टालिका तो पाषाण की बनी होती है किंतु हमारी कल्पना की अट्टालिका तो हमारी कल्पना से बनी है। पाषाण से नहीं। इसीप्रकार ज्ञान के ज्ञेयाकार सब ज्ञान की ही सृष्टि हैं और वे ज्ञेय से अत्यंत भिन्न ही रहते हैं तथा जगत में ज्ञेय हैं, इसलिये ज्ञान में प्रतिबिंबित होते हैं, यह तर्क ही भ्रम-मूलक है, जो ज्ञान की अप्रतिहत शक्ति की अवहेलना करके ज्ञान के क्लेव्य की घोषणा करता है। ज्ञेय जैसा आकार ज्ञान में जानने का यह अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता कि ज्ञान का वह कार्य ज्ञेय की कृपा से निष्पन्न हुआ है। यह तो ज्ञान की स्वच्छता तथा प्रामाणिकता का ही प्रतीक है। जगत में सदृशकार्य तो अनेक होते हैं किंतु किसी की कृपा की उनमें कोई अपेक्षा नहीं होती। जैसे हमारे पड़ोसी के घर भात बनाया जाये और हमारे यहाँ भी भात बनाया जाये तो हमने पड़ोसी का अनुकरण करके अथवा पड़ोसी से कुछ लेकर तो अपना भात नहीं बनाया, हमारा भात स्वतंत्ररूप से अपने नियत समय में हमारी संपत्ति से बना है और इसीप्रकार पड़ोसी का भी। दोनों में कोई संबंध ही नहीं बनता। हाँ, सादृश्य तो दोनों में है किंतु संबंध कुछ भी नहीं है। इसीप्रकार ज्ञान में कोई ज्ञेय अथवा घट प्रतिबिंबित होता है तो ज्ञान का घटाकार तो ज्ञान की अपनी शक्ति से अपने नियत समय में उत्पन्न हुआ है, मिट्टी के घट के कारण नहीं। क्योंकि मिट्टी का घट तो पहले भी विद्यमान था किंतु ज्ञान का घट पहले नहीं था। ज्ञान ने अपने क्रमबद्ध प्रवाह में अपना घट अब

बनाया है और उस घटाकार की रचना में ज्ञान ने मृण्मय घट का अनुकरण नहीं किया है, वरन ज्ञान का घटाकार मृण्यम घटाकार से नितांत पृथक् ज्ञान का अपने समय का स्वतंत्र निरपेक्ष उत्पादन है। ज्ञान में घटाकार की रचना, ज्ञान के अनादि अनंत प्रवाह क्रम में नियत क्षण में ही हुई है। इसके एक क्षण भी आगे-पीछे की कल्पना एकांत मिथ्या है। 'ज्ञान के सामने घड़ा है' अतएव घट ही प्रतिबिंबित हुआ, यह बात तर्क और सिद्धांत की कसौटी पर भी सिद्ध नहीं होती। यदि उसे सिद्धांतत: स्वीकार कर लिया तो फिर लोकालोक तो सदा ही विद्यमान हैं, केवलज्ञान क्यों नहीं होता ? पुन: यदि पदार्थ ज्ञान का कारण हो तो फिर सीप के दर्शन से चाँदी की भ्रांति क्यों हो जाती है ? अथवा वस्तु के न होते हुए भी केश मशकादि का ज्ञान कैसे उत्पन्न हो जाता है तथा भूत और भावी पर्यायें तो वर्तमान में विद्यमान नहीं है, उनका ज्ञान कैसे हो जाता है। अत: ज्ञेय से ज्ञान की सर्वांगीण निरपेक्षता-निर्विवाद है।

इस लोक में ज्ञान का ऐसा अद्‌भुत स्वभाव है। और इस निरपेक्ष, निर्लिप्त निरावरण ज्ञान स्वभाव की प्रतीति एवं अनुभूति भव-विनाशिनी है। ज्ञानी जानता है कि 'जिस समय जो ज्ञेय मेरे ज्ञान में प्रतिबिंबित दीख पड़ता है, वह सब ज्ञान का ही आकार है। वह सब मैं ही हूँ और वह प्रतिबिंब मेरा ही स्वभाव है। ज्ञान का वह आकार ज्ञेय से नितांत रीता है। उसमें ज्ञेय का एक अविभाग प्रतिच्छेद भी प्रविष्ट नहीं है। और वह आकार मेरे ज्ञान के नियत स्वकाल में मेरे ज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है और वही उत्पन्न होने योग्य भी है। अन्य परिणाम को उस समय मेरे ज्ञान के प्रवाह में उत्पन्न होने का अवकाश एवं अधिकार नहीं है। इसमें 'यह क्यों' आया और अन्य 'क्यों नहीं' यह प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञान में प्रतिबिंबित ज्ञेयोकार के संबंध में जिसको 'क्यों' यह विषम भाव उत्पन्न होता है, वह वस्तुत: ज्ञान के ज्ञेयाकार, ज्ञानस्वभाव और आत्मा का ही अभाव चाहता है। ज्ञान-स्वभाव की यह प्रतीति निर्भयता एवं नि:शंकता को जन्म देती है। ज्ञानी इस प्रतीति में सदा ही निश्चिंत है कि मेरी ज्ञान-परिधि में जगत का प्रवेश ही निषिद्ध है। अत: अनेकाकार होकर भी ज्ञान निर्मल ही रहता है और वे अनेकाकार भी ज्ञान ही के विशेष होने के कारण ज्ञान ही है। ज्ञान के ये विशेष किसी व्यवस्था की वस्तु नहीं किंतु सहज ही अपने नियत समय में ज्ञान सामान्य में से उत्पन्न होते रहते हैं, अत: ज्ञानी इन विशेषों का भी तिरोभाव करके ज्ञान सामान्य पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है और निरंतर शुद्ध ज्ञान ही उसकी अनुभूति में अवतीर्ण होता है।

इसके विपरीत अज्ञानी सदा ही ज्ञेयाकारों के ज्ञान में प्रवेश की भ्रांति से उद्वेलित रहता है। उसे ऐसा लगता है कि ये इन्द्रियों के विषय मेरे भीतर ही चले आ रहे हैं। वस्तुतः तो इन्द्रिय-विषय ज्ञान में प्रतिबिंबित मात्र होते हैं। ज्ञान के प्रतिबिंब को अज्ञानी साक्षात् ज्ञेय ही समझता है। अतः उसे सदा ज्ञेयमिश्र ज्ञान की अशुद्ध अनुभूति ही होती है। श्री समयसार परमागम १५वीं गाथा की टीका में आचार्य श्री अमृतचंद्र इसका अत्यंत मार्मिक चित्रांकन करते हैं:—

'अनेक प्रकार के ज्ञेय के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेष भावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान, वह अज्ञानी ज्ञेय-लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है किंतु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता और परमार्थ से विचार किया जावे तो, जो ज्ञान, विशेष के आविर्भाव से आता है, वही ज्ञान, सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो जैसे सेंधव की डली अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सेंधव का ही अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक क्षर रसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है, उसीप्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।'

वस्तुतः ज्ञान सामान्य की विस्मृति कर देने पर ज्ञान के अनेकाकार की सृष्टि न बनकर ज्ञेय की सृष्टि बन जाती है और शाक तथा लवण के मिश्रण की भांति अज्ञानी को सदा ही 'यह देह मैं ही हूँ, यह ज्वर मुझे ही है', ऐसा मिश्र स्वाद आता है। किंतु ज्ञानी को तो सदा ही ज्ञान सामान्य की ही स्मृति है। 'मेरा ज्ञान, ज्वर तथा देहाकार परिणत होने पर भी मैं देह तथा ज्वर से भिन्न ज्ञान ही हूँ।' ज्ञान को देह नहीं और ज्ञान को कभी ज्वर चढ़ता ही नहीं। अतः ज्ञान के ज्वाराकार और देहाकार परिणाम भी ज्ञानी को दृष्टव्य नहीं। इसमें यह तर्क भी अपेक्षित नहीं कि यदि निरंतर ज्ञान-सामान्य की ही दृष्टि रहे तो फिर ज्ञान के विशेषों का क्या होगा? वस्तुतः ज्ञान तो सहज ही ज्ञेय निरपेक्ष रहकर अनेकाकार परिणत होता रहता है। किसी प्रबंध के बिना ही वे अनेकाकार ज्ञान में होते रहते हैं। जैसे हमारे घर में झूलते हुए दर्पण में पड़ोस के मकान, मनुष्य आदि सहज मौन भाव से प्रतिबिंबित होते रहते हैं, हम उनकी व्यवस्था नहीं करते और दर्पण

के वे खंडभाव (प्रतिबिंब) हमारे प्रयोजन की वस्तु भी नहीं होते। यद्यपि वे हमारे जानने में अवश्य आते हैं किंतु हमारी अविरल दृष्टि तो अपने अखंड दर्पण पर ही केन्द्रित रहती है। यदि हमारी दष्टि उन खंड भावों और प्रतिबिंबों पर केन्द्रित हो जाये और हम दर्पण की अखंडता को विस्मृत कर दें तो हमें लगेगा कि हमारे दर्पण में तो कोई मनुष्य अथवा मकान प्रविष्ट हो गया। अत: हम विह्वल हो उठेंगे। किंतु इन अनेकाकारों में भी दर्पण तो ज्यों का त्यों विद्यमान है, यह दृष्टि और प्रतीति निराकुलता को जन्म देती है।

अज्ञानी मानता है 'मुझे धन मिला', किंतु वस्तुत: अज्ञानी के ज्ञान को भी धन का एक आकार मात्र मिला है, धन तो मिला नहीं है। अज्ञानी धन मिलने की कल्पना से ही हर्षित होता रहता है। इसीप्रकार अग्नि के संयोग में अज्ञानी मानता है 'मैं जल रहा हूँ' किंतु वस्तुत: अग्निज्वाल ज्ञान में बिंबित मात्र हो रही है, ज्ञान तो जल नहीं रहा है। यदि अग्नि से ज्ञान जलने लगे तो अग्नि की उष्णता को कौन जानेगा ? किंतु अज्ञानी 'मैं जल रहा हूँ' इस कल्पना से ही विह्वल हो उठता है। वस्तुत: ज्ञान को ज्ञेय से कुछ भी तो नहीं मिलता है, वह तो अपने उन ज्ञेयाकारों में भी उतना का उतना ही रहता है। हमारे दर्पण में प्रतिबिंबित किसी अट्टालिका से हम अपने को लाभान्वित तो नहीं मानते और उस अट्टालिका के दर्पण से ओझल हो जाने पर हम शोकान्वित भी कहाँ होते हैं ? इस परिस्थिति में हर्ष या शोक तो किसी बालक का ही कार्य हो सकता है किंतु यह दृष्टि तो हमें निरंतर ही वर्तती है। हमारे घर में स्वच्छ दर्पण झूल रहा है और हम यह भी जानते हैं कि उस दर्पण में जगत के अनेक पदार्थ भी प्रतिबिंबित होते हैं किंतु हमारे दर्पण में क्या-क्या प्रतिबिंबित होता है, यह हमारा दृष्टि का विषय नहीं होता। वरन उन प्रतिबिंबों के प्रति सदा हमारा उदासीन भाव ही प्रवर्तित होता है। जो भी प्रतिबिंबित होता हो, वह दर्पण का स्वभाव ही है। दर्पण के स्वच्छ स्वभाव का विश्वास हमें यह विकल्प ही नहीं उत्पन्न होने देता कि उसमें क्या-क्या प्रतिबिंबित होता है ? क्योंकि वह हमारे विकल्प अथवा व्यवस्था का विषय न होकर दर्पण का अकृत्रिम स्वभाव ही है। उसमें जो भी प्रतिबिंबित होता है, सब व्यवस्थित ही है व्यवस्था योग्य नहीं। तथा वे प्रतिबिंब ममता करनेयोग्य भी नहीं। क्योंकि उन प्रतिबिंबों की ममता क्लेशकारिणी है। दर्पण में उन प्रतिबिंबों के आगमन पर ज्यों ही हम हर्षित होंगे, दर्पण से उनका विलय हमें शोक-सागर में निमग्न कर देगा।

अत: दर्पण विशेष की दृष्टि से उत्पन्न कल्पित हर्ष-शोक का अंत दर्पण सामान्य की

दृष्टि से ही संभव है, अन्य कोई पथ नहीं है। इसीप्रकार ज्ञान में प्रतिबिंबित अनेक ज्ञेयाकाररूप ज्ञान के विशेषों में यद्यपि ज्ञान सामान्य की ही व्याप्ति है, ज्ञेय की व्याप्ति नहीं किंतु ज्ञान के वे विशेष वास्तव में आत्मा के लिये जाननेमात्र के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रयोजन की वस्तु नहीं हैं। ज्ञान में वे स्वत: ही सहज भाव से निर्मित होते रहते हैं। यथा–ज्ञान में जो घट परिणत हुआ, वह घटाकार स्वयं ज्ञान ही है किंतु आत्मा उस घटाकार ज्ञान का क्या करें ? अत: निरंतर 'मैं तो ज्ञान ही हूँ, घट नहीं' यह सामान्य की दृष्टि एवं अनुभूति ही शांति प्रदायिनी है।

ज्ञानस्वभव की प्रतीति अनंत प्रश्नों, अगणित घटनाचक्रों तथा असंख्य परिस्थितियों का एकमात्र समाधान है। उस दृष्टि में शुद्ध अखंड एकरूप ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा में कुछ भासित ही नहीं होता। 'मैं तो ज्ञान का ध्रुवतारा हूँ' इसामें आत्मा के साथ देह, कर्म और राग का संबंध भी कहाँ रहा ? राग तो आत्मा और कर्म की संयोगी दृष्टि में भासित होता है। जैसे जल को कीच के साथ देखने पर मलिनता अनुभव में आती है किंतु शुद्ध जल–स्वभाव के समीप जाकर देखें तो जल में कीच कहाँ है ? जल तो कीच के साथ भी जल ही है। इसप्रकार कर्म और आत्मा की संयोगीदृष्टि में आत्मा में राग–द्वेष, पुण्य–पाप दृष्टिगत होते हैं किंतु शुद्ध ज्ञानस्वभाव की समीपता में ज्ञान में न राग है, न द्वेष है, न पुण्य है, न पाप है, न देह है और न मन–वाणी है। कर्म और देह के विविध अप्रत्याशित परिणाम ज्ञान का स्पर्श भी नहीं कर पाते। प्रलय काल के भयंकर प्लावन के बीच ज्ञानी तो अनुभव करता है कि मेरे ज्ञान में प्रलय नहीं हुआ है। मैं तो प्रलय का भी ज्ञाता ही हूँ। प्रलय के द्रव्य ज्ञान में प्रतिबिंबित होते हैं किंतु ज्ञान प्रलयाकार होने पर भी ज्ञान में प्रलय का प्रवेश नहीं होता। जैसे सागर को समर्पित पुष्पहार अथवा प्रहार सागर के वक्ष में चित्रितमात्र हो रह जाते हैं और सागर रोष अथवा तोष की विषम अनुभूतियों से शून्य एक रूप ही रहता है। इसीप्रकार विश्व का सर्वस्व ज्ञान में प्रतिबिंबित होने पर भी ज्ञानी उन संपूर्ण विशेषों का तिरोभाव करके 'मैं त्रिकाल ज्ञान ही हूँ' विश्व नहीं, इस शुद्ध ज्ञान का ही चिरंतन संचेतन करता है। जगत की भयंकर प्रतिकूलताओं और सप्तम नरक की यातनाओं में भी ज्ञान को शुद्ध ज्ञान का यह संचेतन अबाधित रहता है। जब ज्ञान को देह नहीं, तब प्रतिकूलता का अस्तित्व ज्ञानी की दुनियाँ में ही कहाँ रहा ? प्रतिकूलता और नरक की यातना का ज्ञान में प्रवेश ही नहीं है, तब प्रतिकूलता और यातना ज्ञान को कैसी ? इसप्रकार ज्ञान के वज्र कपाटों का भेदन करके कोई ज्ञानस्वभाव में प्रविष्ट ही नहीं हो पाता। अत: ज्ञान त्रिकाल शुद्ध,

एकरूप ही रहता है। इसी ज्ञान के शुद्ध एकत्व में प्रतिष्ठित होकर ज्ञानी शुद्ध अनुभूति के बल से विकार और कर्मों का क्षय करता हुआ मुक्ति के पावन पथ पर बढ़ता चलता है और अंत में मुक्ति उसका वरण कर लेती है।

वस्तुतः ज्ञानी को मुक्ति की चाह नहीं है; ज्ञान तो त्रिकाल मुक्त ही है। उसे नई मुक्ति अथवा सिद्धदशा की भी अपेक्षा नहीं है। ज्ञान तो जगतिक द्रव्य क्षेत्र का स्वभाव से सदा ही मुक्त पड़ा है। ज्ञान तो नरक में भी मुक्त ही है। वह सदा ज्ञायक ही तो है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी कल्पना उसके प्रति व्यर्थ है। उसे आस्रव और बंध भी नहीं है, फलतः संवर, निर्जरा और मोक्ष भी उसे नहीं है। क्योंकि जो पहिले बँधा हो, उसी के तो छूटने का प्रसंग बन सकता है। जो कभी बँधा ही नहीं, उसकी मुक्ति की वार्ता ही व्यर्थ है। ज्ञान को बाँधने का प्रयास करनेवाला स्वयं ज्ञान सागर में डूब जाता है। वह अविलंब ज्ञान में उतराने लगता है किंतु ज्ञान तो संपूर्णरूप में अप्रभावित ही रहता है। लोक के हर परिस्थिति में 'मैं तो ज्ञान ही हूँ' यह दृष्टि तथा ज्ञान का यह शुद्ध संचेतन भव के कपाटों का भेदन करके मुक्ति के पावन द्वारा का उद्घाटन करता है। यही दृष्टि लोक मांगल्य की अधिष्ठात्री है। जिसमें पर्याय दृष्टि के संपूर्ण क्लेश का अंत हो जाता है। विषमतम परिस्थिति में भी आनंद के मुक्ता बिखेरकर भवप्रसूत चिर-दारिद्र्य का अंत करके शांति का कोप खोल देनेवाली शुद्ध ज्ञान की यह प्रतीति एवं अनुभूति चिर जयवंत वर्ते! चिर जयवंत वर्ते!!

आत्मा का कार्य

धर्मी जीव को आत्मा अत्यंत प्रिय है; स्वानुभूति के कार्य को ही वह अपना कार्य समझता है। वह जानता है कि पराश्रय के अन्य कार्यों में लगना, वह तो संसार का कारण है और आत्मा के अनुभव का कार्य तो स्वाधीन है तथा मोक्ष का कारण है। अहा, ज्ञानी ने स्वानुभव में जो चैतन्य रस का पान किया है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है।

[श्री समयसार : सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के प्रवचन से]

— कार्तिक मास —

मेरा आत्मा चैतन्य की अनुभूति करनेवाला है; राग का या कर्मफल का भोगनेवाला मेरा आत्मा नहीं है।—इसप्रकार धर्मी जीव अपने आत्मा का चैतन्यस्वरूप ही चिंतवन करता है और समस्त कर्मफल को ज्ञानस्वभाव के वेदन से बाहर जानकर छोड़ता है।

अपने आत्मा का चैतन्यस्वरूप से अनुभव करना ही मेरा कार्य है, वही जीवन में करनेयोग्य मुख्य कार्य है। अन्य कार्यों की अपेक्षा यह कार्य कुछ अन्य प्रकार का है। पराश्रय के अन्य कार्यों में लगना, वह तो संसार का कारण है और आत्मा के अनुभव का यह कार्य तो स्वाधीन है तथा मोक्ष का कारण है।

मुझे श्रद्धा करनेयोग्य, प्रीति करनेयोग्य, जाननेयोग्य तथा लीन होनेयोग्य एक ही स्थान है और वह मेरा चैतन्यत्वरूप आत्मा ही; उससे भिन्न अन्य कुछ भी मुझे प्रिय नहीं है;—इसप्रकार धर्मी जीव को आत्मा अत्यन्त प्रिय है; वह धर्म प्रेमी है, 'आत्मप्रेमी' है, जगत का प्रेम उसको उड़ गया है, इसलिये जगत से तो वह उदास है।—ऐसी धर्मी की दशा है।

जिसे आत्मा प्रिय है, वह चैतन्य के अनुभव से बाहर के किसी अन्य भाव को अपना फल नहीं मानता; अरे, चैतन्य का फल तो वीतरागी आनंद है, उसका वेदन करनेवाला मैं हूँ; राग या राग के फलरूप जो १४८ प्रकृतियाँ उनके फल का उपभोग मेरी स्वानुभूति में नहीं है; कर्म और कर्म फल, यह सब मेरी अनुभूति से बाहर है। आनंद से भरी हुई, चैतन्यरस से उल्लसित वीतरागी स्वानुभूति ही मेरा कार्य है।

अपयश, अनादेय और दुर्भाग्य—इन तीन अशुभ प्रकृतियों का उदय ही पाँचवें

गुणस्थान में श्रावक को नहीं होता। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा भी उसकी भूमिका उच्च है। जगत में सबसे बड़ा सर्वार्थसिद्धि का देव, उसकी अपेक्षा अनंत गुणा अधिक विशुद्धि जहाँ प्रगट हो गई है, वहाँ श्रावक को (कदाचित् वह बैल आदि तिर्यंच पर्याय में हो, तथापि उसे) अपयश कैसा? अनादेयपना कैसा? और दुर्भाग्य का उदय कैसा? सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा अनंती गुण प्रशंसा प्रगट हो गई है, फिर उसके अनुभव में कर्म प्रकृति का अनुभव कैसा? अरे, ज्ञानी ने स्वानुभूति में जिस चैतन्यरस का पान किया है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है।

सम्यक्त्वी कहते हैं कि तीर्थंकर प्रकृति का उपभोग भी मेरे चैतन्य की अनुभूति में नहीं है। अरे, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ, वह जीव जहाँ जन्म ले, वहाँ तो इन्द्रों के इन्द्रासन किंचित् चलायमान हो जाते हैं; परंतु धर्मात्मा कहते हैं कि तीर्थंकर प्रकृति के प्रताप से इन्द्र का इन्द्रासन चलित हो तो भले हो, परंतु मैं तो अपने चैतन्य सिंहासन में अचल हूँ; मेरा अचल चैतन्य सिंहासन तीर्थंकर प्रकृति के उदय से भी चलित नहीं होता। अहा, साधक को पवित्रता के साथ के एक विकल्प से जिस तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ, उसकी महिमा इतनी है कि जगत को आश्चर्य में डाल दे; तो फिर उस जीव की पवित्रता की क्या बात? धर्मी जानता है कि मैं तो अपनी पवित्रता का ही उपभोग करनेवाला हूँ, बीच के विकल्प को अथवा उसके फल को भोगनेवाला मैं नहीं हूँ।—ऐसी चैतन्य भावना के बल से धर्मात्मा समस्त कर्मफल को छोड़ते हैं; उपयोग को बारम्बार अंतर में एकाग्र करके रत्नत्रय को पुष्ट करते हैं। धर्मात्मा को पवित्रता और साथ ही पुण्य-दोनों अलौकिक होते हैं; परंतु उनमें से धर्मात्मा पवित्रता के ही भोक्ता हैं, पुण्य के नहीं।

चैतन्य तेज से जगमगाता हुआ ज्ञान दीपक, उसके प्रकाश में विकार का अंधकार कैसे होगा? चैतन्यानंद के वेदन में कर्म का फल कहाँ घुस गया? ज्ञान में दूसरा कौन घुस जायेगा? ज्ञान में तो ज्ञान का ही वेदन होता है; ज्ञान में विकार का या जड़ का वेदन कैसे होगा? प्रतिकूलता का प्रसंग हो या अनुकूलता का, उसका वेदन ज्ञान में नहीं है; बाहर की प्रतिकूलता ज्ञान में दुःख का अनुभव करा दे या बाहरी अनुकूलता ज्ञान में सुख का वेदना करा दे—ऐसा नहीं है; क्योंकि ज्ञान को बाह्य पदार्थों का वेदन ही नहीं है। अहा! ऐसे ज्ञान को प्रतीति में लेकर धर्मी जीव चैतन्य के आनंद का ही उपभोग करता है।

धर्मी जीव की ऐसी भावना है कि—मेरे चैतन्यानंद के वेदन की यह परिणति सदाकाल ऐसी की ऐसी बनी रहे। मेरी परिणति का प्रवाह सदाकाल चैतन्य के अनुभव में ही बहे... आनंद के उपभोग में ही मेरी परिणति सदा एकाग्र रहे! अब इस चैतन्य के अनुभव में से कभी सादि-अनंत काल में बाहर नहीं निकलना है। कर्मफल का उपभोग मुझे न हो!... वह मेरे भोगे बिना ऐसे ही खिर जाये! मेरे चैतन्य के उपभोग से वह बाहर है।

देखो भाई, इस परम सत्य वस्तुस्वभाव के श्रवण में उत्साह आये तो उसमें भी महान पुण्य का बंध हो जाता है और उस पुण्य के फल में पुनः ऐसे सत्स्वभाव के श्रवण आदि का योग प्राप्त हो,—ऐसे विशिष्ट पुण्य सत्यस्वभाव के आदरपूर्वक श्रवण में बँध जाते हैं। यद्यपि वे पुण्य कहीं स्वभाव की प्राप्ति तो नहीं करा देते, परंतु धर्म के बहुमान के संस्कार साथ ले जाये तो अगले भव में भी धर्म श्रवण आदि का योग प्राप्त होता है और अंतर प्रयत्न करे तो स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है। सत्य के श्रवण में जो उत्साहित हुआ, वह भी भाग्यशाली है। अरे, वर्तमान में तो कैसी-कैसी विपरीत प्ररूपणा तथा असत्य चल रहा है; उसमें ऐसे परम सत्य स्वभाव के श्रवण का प्रेम जागृत होना और सत्य की ओर झुकाव होना तथा ऐसे दृढ़ संस्कारों को साथ ले जाना, वह महान लाभ का कारण है। एक बार अंतर की गहराई से सत्य स्वभाव का प्रेम जागृत करके उसके संस्कारों को जिसने आत्मा में स्थापित किया, उसे अल्प काल में ही वे संस्कार अंकुरित होकर आत्मा की प्राप्ति होगी।

ज्ञानी को चैतन्य के निर्विकल्प अनुभवपूर्वक ज्ञानचेतना तो प्रगट हुई है। तदुपरांत संत कहते हैं कि हे ज्ञानी! इस ज्ञानचेतना की पूर्णता के लिये अब आनंदपूर्वक इस ज्ञानचेतना को नचाते हुए चैतन्य के प्रशमरस को सादि-अनंत काल तक पियो! ज्ञानी को जहाँ ज्ञानचेतना प्रगट हुई, वहाँ अब कहीं परभाव में अटक जाना तो है ही नहीं, अब तो आनंदपूर्वक चैतन्यरस को पीते-पीते मोक्ष को साधना है... अनुभव की वृद्धि ही करते जाना है। अज्ञानियों को ज्ञानचेतना की आनंद-धारा की तो खबर ही नहीं है, इसलिये वे कहीं न कहीं परभाव में अटक जाते हैं और ज्ञानी को तो आनंद की धारा उल्लसित हुई है.. उस ओर ही परिणति का वेग ढला है... इसलिये आत्मा को उसी में उत्साहित करते हैं कि हे आत्मा! अब से सदा काल इस प्रशमरस को पीते-पीते पूर्णता को प्राप्त कर! साधक तो हुआ; अब अनुभव की उग्रता करके सिद्ध हो। यही आत्मा का कार्य है। अज्ञानदशा में संसार का काल गया सो तो गया, परंतु अब

चैतन्य का भान हुआ तब से लेकर सदा काल इस चैतन्यरस को ही पियो ! जिसने चैतन्य का अमृतरस चखा, उसे विकार का विष कैसे अच्छा लगेगा ? चैतन्य का शांतरस पिया, उसे चैतन्यरस की मिठास के सामने सारा संसार खारा लगता है, इसलिये एकबार जिसने चैतन्य का मीठा स्वाद चखा उसकी परिणति परभाव में कभी नहीं जायेगी सदा अलग ही रहेगी। ऐसी अनुभूति प्रगट करना वही आत्मा का कार्य है।

जब समझें, तभी उद्धार

पात्रकेसरी वेदों के निष्णात प्रतिभाशाली विद्याभिमानी विद्वान थे, जिनके ५०० शिष्य थे, उनकी राज्य में बड़ी मान प्रतिष्ठा थी। एक दिन संध्या के पूर्व वे अपने शिष्य समुदाय के साथ पार्श्वनाथ मंदिर के समीप से जा रहे थे। उस मंदिर में संस्कृत श्लोकों की सुंदर ध्वनि उनके कर्ण कुहरों में पड़ी। उस आकर्षक कर्णप्रिय ध्वनि को वे ठिठककर सुनने लगे। धीरे-धीरे वे जैन मंदिर में ही पहुँच गये। वहाँ देखा तो एक मुनिराज देवागम स्तोत्र का पाठ कर रहे थे, पात्रकेसरी ने पूछा—क्या इसका अर्थ बतला सकते हो ? उत्तर मिला, इसका अर्थ आप ही बतलाईये ? पात्रकेसरी ने एक बार पूरा पाठ सुनकर ही उसे अपनी स्मरणशक्ति के बल पर याद कर लिया, पश्चात् उसका अर्थ समझाया, जिससे उन्हें जैनधर्म का रहस्य समझ में आ गया। वे अपने ५०० शिष्यों सहित दिगम्बर मुनि बन गये। वे अब जैनधर्म के प्रकाण्ड नैयायिक विद्वान बन गये थे, जिन्होंने शास्त्रार्थ में दिग्गज विद्वानों को परास्त कर दिया था।

जगत से भिन्न

स्वानुभूतिगम्य आत्मा

हे जीव! स्वानुभूति से तू अपने ज्ञान-दर्शन-आनंदस्वरूप आत्मा को जान। स्वानुभूतिगम्य तेरा आत्मा जगत के पदार्थों से भिन्न तथा समस्त परभावों से भी भिन्न है। स्वानुभूति में जो तत्त्व आया वही तू है। अभेदरत्नत्रय परिणत जीव को निर्विकल्प समाधि में जो परम तत्त्व आनंदसहित अनुभव में आता है, वही आत्मा है। ऐसे परमतत्त्व को यह परमात्मप्रकाश के प्रवचन प्रगट बतलाते हैं।

[परमात्म प्रकाश-प्रवचनों से]

आत्मा का स्वरूप क्या है कि जिसके अनुभव से दु:ख दूर होकर सुख का अनुभव हो!—ऐसी जिसे जिज्ञासा हुई है, उसे आत्मस्वरूप समझाने के लिये यह उपदेश है। यह चैतन्यस्वरूप आत्मा देहातीत है; उसके देह नहीं है, देह संबंधी स्त्री-पुत्रादि नहीं हैं, बंधु-बांधव नहीं हैं, उसे रोग नहीं है, लक्ष्मी आदि नहीं हैं, काला-सफेद-लाल आदि रंग उसके नहीं हैं; मनुष्यपना आदि चार गतियाँ उसके नहीं हैं, क्षत्रिय-वैश्य-ब्राह्मण आदि जातियाँ उसके नहीं हैं, धनवानपना या निर्धनपना उसके नहीं है, दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि लिंग उसके नहीं हैं और पंडितपना, मूर्खपना, शिष्यपना, गुरुपना आदि भी उसके स्वभाव में नहीं है। भाई, अन्य समस्त द्रव्य तो तू नहीं है, परंतु भीतर जो पुण्य-पाप के विकृतभाव हैं, वह भी तू नहीं है।

—तो फिर आत्मा कैसा है ?

आत्मा तो ज्ञान है, आत्मा दर्शन है, आत्मा संयम है, आत्मा आनंद है। अथवा अभेद रत्नत्रय परिणत जीव को निर्विकल्प समाधि में जो परमतत्त्व आनंदसहित अनुभव में आता है, वही आत्मा है। स्वानुभूति में जितना तत्त्व आया, उतना ही आत्मा है। परम स्वभावी यह आत्मा निर्विकल्प अनुभव में प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी परद्रव्य में या परभाव में यह परमस्वभावी परमात्मा प्रगट नहीं होता।

अपने को जो शरीरादि से भिन्न नहीं जानता, वह दूसरों को भी शरीर-लक्ष्मी आदि से बड़ा मानता है और उनका प्रेम करता है;—यह बहिरात्मा का लक्षण है। भाई, ज्ञान में-श्रद्धा

में- चारित्र में जो अधिक हो, उसकी महिमा तुझे नहीं आयी और लक्ष्मी आदि में जो अधिक है, उसकी महिमा आयी; तो तूने आत्मा को लक्ष्मीवान-जड़ माना है, ज्ञानस्वरूप आत्मा को तूने नहीं जाना है। राग से और पुण्य से भी आत्मा की बड़ाई नहीं है, तो फिर बाह्य पदार्थ तो कहीं दूर रहे। स्वानुभूति से तू अपने ज्ञान-दर्शन-आनंदस्वरूप आत्मा को जान।—इसप्रकार स्वानुभव से आत्मा को जाननेवाले अंतरात्मा अपने स्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अपने आत्मा को नहीं लगाते अथवा अन्यत्र कहीं 'यह मैं हूँ'—ऐसी आत्मबुद्धि उनको नहीं होती; चैतन्यस्वभावरूप ही अपने आत्मा को भाते हैं—अनुभव करते हैं।

चेतनभाव ही आत्मा है, चेतनभाव के अतिरिक्त अन्य कोई पुण्य-पापादि के भाव आत्मा नहीं है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत...' आत्मा सदा चेतनस्वरूप है; उपयोगरूप शुद्धभाव में ही आत्मा है, विकार में आत्मा नहीं है। धर्मी अपने आत्मा का उपयोग स्वरूप ही अनुभव करता है; उस अनुभव में राग नहीं है, राग और पुण्य-पाप तो अनुभव से बाहर-भिन्न ही हैं। जगत से भिन्न ऐसा आत्मा स्वानुभूति से ही गम्य होनेयोग्य है।

स्वसंवेदन ज्ञान से धर्मी जानता है कि मेरा आत्मा ज्ञान-दर्शन-संयमरूप है, मेरा आत्मा मोक्षस्वरूप है। विकारस्वरूप मेरा आत्मा नहीं है, कर्म बंधवाला मेरा आत्मा नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मोक्षादि निर्मलभाव मेरा आत्मा ही है; अपने आत्मा से बाहर कहीं मेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है। मेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में मेरा शुद्ध आत्मा ही है, राग मेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में नहीं है और राग मे मेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं। ऐसे आत्मा का धर्मी अनुभव करता है। इसप्रकार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र एवं मोक्षसुखरूप निर्मलभाव से परिणमित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र संबंधी जो विकल्प है, वह शुद्धात्मा से बाह्य है; विकल्प वह आत्मा का अंतर का अंग नहीं है परंतु बहिरअंग है; शुद्ध चैतन्य से उस विकल्प की जाति भिन्न है। यद्यपि शुद्ध परिणति के साथ सहकारी रूप जो शुभ विकल्प और उनका फल है, वह भी लोकोत्तर होता है, दूसरों की अपेक्षा उच्च प्रकार का होता है; तथापि शुद्ध परिणति से तो वह बाह्य ही है। शुद्ध परिणति तो निश्चय से आत्मा है; विकल्प और पुण्य वह निश्चय से आत्मा नहीं है।

निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना जो मोक्षमार्ग का अस्तित्व माने, उसे जैनधर्म के मार्ग की खबर नहीं है। निश्चय सम्यक्त्वादि आठवें गुणस्थान से होते हैं और नीचे नहीं

होते—ऐसा कोई कहे, उसका अर्थ यह हुआ कि—या तो आठवें गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में मोक्षमार्ग ही नहीं है अथवा तो निश्चय-सम्यक्त्वादि के बिना ही मोक्षमार्ग है; परंतु वे दोनों बातें मिथ्या हैं। मोक्षमार्ग का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से ही हो जाता है और चौथे गुणस्थान से ही निश्चयसम्यक्त्व होता है। जहाँ निश्चय सम्यक्त्व न हो, वहाँ मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं हो सकता। और यदि चौथे-पाँचवें गुणस्थान में निश्चय न हो तो क्या वहाँ एकांत व्यवहार है? एकांत व्यवहार तो मिथ्या ही है; इसलिये निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक अर्थात् स्वानुभवसहित शुद्धात्मा की प्रतीतिपूर्वक ही मोक्षमार्ग होता है, उसी से अंतरात्मपना प्रगट होता है। जब तक जीव को ऐसा निश्चय सम्यक्त्व न हो, तब तक वह बहिरात्मा है और जो चौथे गुणस्थान में निश्चय सम्यक्त्व न माने, वह भी एकांत व्यवहार में लीन बहिरात्मा ही है—ऐसा जानना।

अरे, स्वानुभूति क्या और सम्यग्दर्शन क्या, उसका स्वरूप समझना भी वर्तमान में बहुतों को दुर्लभ हो गया है। मोक्षमार्ग के लिये यह एक सिद्धांत है कि—मोक्षमार्ग आत्माश्रित है; इसलिये आत्मारूप जो भाव हुआ, वही मोक्षमार्ग है। अब, आत्मा का स्वभाव श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है, उस स्वभावरूप हुआ भाव (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप हुआ निर्मल भाव), वही मोक्षमार्ग है; परंतु उससे विरुद्ध मिथ्यात्वादि मलिनभाव, वह मार्ग नहीं है; जिसप्रकार मिथ्यात्व, वह मार्ग नहीं है; अज्ञान, वह मार्ग नहीं है; उसीप्रकार राग भी मार्ग नहीं है; क्योंकि वे भाव आत्मा के स्वभावरूप नहीं हैं; वे वास्तव में आत्मारूप नहीं हैं परंतु अनात्मारूप हैं। आत्मा के स्वभाव से जिसकी जाति न मिले, वह मोक्षमार्ग कैसे होगा? आत्मा को साधे, वह परिणाम आत्मारूप होता है; अनात्मारूप नहीं होता।—इसप्रकार शुद्ध आत्मा ही मोक्षमार्ग में उपादेय है। शुद्ध आत्मा को उपादेय करनेवाला ही मोक्ष को साधता है, अन्य कोई मोक्ष को नहीं साधते। राग का आदर करनेवाले कभी मोक्ष को नहीं साध सकते। मोक्ष परम आनन्दधाम है; उसका मार्ग भी आनन्दधाम में ही है। राग तो आकुलता का धाम है, वह कहीं आनंद का धाम नहीं है, इसलिये उसमें मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्ष आनंदस्वरूप है और उसका मार्ग भी आनंदस्वरूप है; उसमें आकुलता का स्थान नहीं है, उसमें राग का स्थान नहीं है। राग, राग में है, परंतु मोक्षमार्ग नहीं है। जो भाव मोक्षमार्गरूप है, उसमें राग का अभाव है।

शुद्ध स्वभाव को भूलकर राग को धर्म माननेवाले जीव निश्चय-व्यवहार दोनों को भूल

रहे हैं; वे व्यवहार को तो उसकी मर्यादा से अधिक महत्त्व देते हैं और निश्चय का जो परम महत्त्व है, उसे भूल जाते हैं।

यह चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वयं ही अपना देव है, उसकी आराधना से ही संसार से पार उतरा जा सकता है, इसलिये वही परमार्थ तीर्थ है, वही गुरु है, वही देव है, वही सेवन करनेयोग्य है और वही आराधनेयोग्य है।—ऐसे स्वद्रव्य की ही आराधना करने का उपदेश दिया है। बाहर के देव-गुरु और सम्मेदशिखरजी आदि तीर्थों की भक्ति-उपासना, वह व्यवहार है, वह शुभराग है और अंतर में अपने चिदानंदस्वभाव की ही देव-गुरु एवं तीर्थरूप से उपासना, सो निश्चय है। वीतराग-निर्विकल्पदशा में तो स्वशुद्धात्मा ही एक परम आदरणीय है और सविकल्प काल में वीतरागी सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ मुनिराज-गुरु एवं सिद्ध क्षेत्रादिक तीर्थ आराधना योग्य हैं—ऐसा व्यवहार है।

जो व्यवहार देव-गुरु-तीर्थ की आराधना है, वह पुण्यास्रवसहित है, और शुद्धात्मा की जो निश्चय आराधना है, वह आस्रवरहित है, वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। अपने शुद्ध स्वात्म तीर्थ की अपेक्षा अन्य कोई बड़ा तीर्थ नहीं है। जगत में जो तीर्थ (शिखरसम्मेद, गिरनारजी, आदि) बने, वे भी शुद्धात्मा के आराधक जीवों के प्रताप से ही बने हैं; शुद्धात्मा से बड़ा अन्य कोई देव या गुरु नहीं है। देव स्वयं भी शुद्धात्मा को प्राप्त हैं और गुरु भी शुद्धात्मा के ही साधक हैं; इसलिये शुद्धात्मा ही परमार्थ उपादेय है। देव-गुरु भी उस शुद्धात्मा को उपादेय करने का ही उपदेश देते हैं। जिसने अंतर में शुद्धात्मा को निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से उपादेय किया है, उसे उसके साथ सविकल्पदशा के समय जो देव-गुरु-तीर्थ की उपासना आदि का शुभभाव है, वह भी ऐसा है कि वह मोक्ष का ही परम्परा कारण (अभावरूप कारण) होगा; इसलिये बीच में भंग पड़े बिना वह वीतराग होगा और तब उस जाति का शुभराग भी छूट जायेगा। इसलिये निश्चयमार्ग की अप्रतिहत आराधना रखकर बीच में ज्ञानी को व्यवहार आता है—ऐसी निश्चय-व्यवहार की शैली का वर्णन किया है। सविकल्पदशा में देव-गुरु-तीर्थ की सेवा-भक्ति-पूजादि का जो व्यवहार है, उसे सर्वथा स्वीकार न करे तो एकांत निश्चयाभासी जैसा हो जाये; तथा अकेले व्यवहार में ही रुककर उसी में सर्वस्व-धर्म मान ले और स्वभाव को भूल जाये तो उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई! तेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो स्वद्रव्य है, परद्रव्य में कहीं तेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं; इसलिये तू स्वद्रव्य का ही सेवन कर और परद्रव्य के

सेवन में न जा। स्वद्रव्य के सेवन से ही तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होगा। परद्रव्य का सेवन करने जायेगा तो राग होगा परंतु मोक्षमार्ग नहीं होगा।

ध्यान करनेयोग्य शुद्धात्मा कि जो तीन लोक का सार है, वही सम्यग्दर्शन है; उस शुद्धात्मा से भिन्न अन्य कोई सम्यग्दर्शन नहीं है। शुद्धस्वभाव से भिन्न ऐसा रागभाव, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। शुद्धस्वभाव जो ध्येयरूप है, उससे भिन्न अन्य सब भाव, वह व्यवहार हैं; इसलिये वह वास्तव में सम्यग्दर्शनादि नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन तो शुद्ध आत्मा है और वह तीन लोक में सार है। क्या राग तीन लोक में उत्तम है ? नहीं; यहाँ तो कहते हैं कि राग, वह आत्मा ही नहीं है; राग तो आस्रवतत्त्व है। शुद्धात्मतत्त्व तो रागरहित है, ज्ञानादि स्वभाव से परिपूर्ण है।

आत्मा का निश्चय, वह सम्यग्दर्शन है; आत्मा का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है; आत्मा में निश्चलता, वह सम्यक्चारित्र है—ऐसे आत्मा से अभेद निश्चयरत्नत्रय, वही साक्षात् मोक्ष कारण है। ऐसे रत्नत्रय का आत्मा में ही समावेश होता है, आत्मा से भिन्न अन्य कहीं रत्नत्रय नहीं हैं। रत्नत्रय तो मोक्ष का कारण है, वह बंध का कारण नहीं है; और रागादि व्यवहार तो बंध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। शुद्ध रत्नत्रयरूप जो आत्मा, वही उत्तम सारभूत तथा ध्येयरूप है। उसे ध्यान से जीव एक क्षण में भव का पार पा जाता है।

स्वानुभूति में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-आनंदादि अनेक निर्मल भाव अभेदरूप से स्वाद में-अनुभव में आते हैं। जिसप्रकार पेय में अनेक रसों का स्वाद सम्मिलित है, उसीप्रकार स्वानुभूति में आत्मा के सर्व गुणों का एक रस स्वाद है, परंतु विरुद्धभाव—विकार का स्वाद उसमें सम्मिलित नहीं है। ऐसे चैतन्य को निश्चलरूप से जो एक अंतर्मुहूर्त ध्याता है, वह केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिये हे मोक्षार्थी ! दूसरे बहुत से बाह्य पदार्थों से तुझे क्या प्रयोजन है ? इस चैतन्य परमात्मा का ही तू ध्यान कर। निजस्वरूप पर दृष्टि लगा कि एक क्षण में मोक्ष !—ऐसे निजस्वरूप के ध्यान का सदा अभ्यास कर्तव्य है। वर्तमान में भी जितना ध्यान है, उतना मोक्ष का कारण है। चैतन्य के वीतरागी ध्यान के सिवा मोक्ष का अन्य कोई कारण नहीं है।

शुद्ध परमात्मतत्त्व की भावना से रहित शास्त्रज्ञान भी मोक्ष का सहकारी कारण नहीं होता। शास्त्रज्ञान का हेतु तो शुद्धपरमात्मतत्त्व की भावना (श्रद्धा, ज्ञान, एकाग्रता) करना ही था। उस हेतु को जो भूल जाता है, उसे तो शास्त्रज्ञान मोक्ष के लिये निरर्थक है। और जिसने

आत्मा को जाना, उसे कदाचित् शास्त्रज्ञान विशेष न हो, तथापि समस्त आगम का सार उसने जान लिया है। केवलज्ञान का सामर्थ्य आत्मा में है, ऐसे आत्मा को जिसने जाना, उसने सब कुछ जान लिया। बारह अंग का पूर्ण ज्ञान उसी को हो सकता है कि जो आत्मा को जानता हो। अज्ञानी को बारह अंग का ज्ञान कदापि नहीं होता। ज्ञानी को कदाचित् बारह अंग का शास्त्र ज्ञान न हो—एक भी अंग का ज्ञान न हो, परंतु बारह अंग के सारभूत शुद्धात्मा को जाना, उसमें बारहों अंगों के रहस्य का समावेश हो गया। बारह अंग-चौदह पूर्व का रहस्य क्या ?—कि शुद्धात्मा की अनुभूति ही बारह अंग का रहस्य तथा वही समस्त जिनशासन का सार है। जिसे शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं है, उसने जैनशासन को नहीं जाना है।

शुद्धात्मा का मार्ग जिसने जाना, उसने जीव की समस्त मार्गणाएँ जान ली हैं। और यदि शुद्धात्मा को न जाने तो अकेली मार्गणा के भेदों में से मार्ग हाथ नहीं आ सकता। सच्चा जीव क्या है, उसे पहिचानने के बाद उसके भेद-प्रभेद कितने-क्या हैं, उनकी सच्ची शोध कर सकता है; परंतु यदि जीव का सच्चा स्वरूप न जाने तो इन्द्रियादि को ही जीव मान ले और सच्चा जीव उसके जानने में न आये।

जिसने आत्मा जाना, उसने सब कुछ जान लिया। तुझे लोकालोक को जानना हो तो आत्मा को जान। लोकालोक को लक्ष्य बनाकर उसे जानना चाहे तो उसका पूर्ण ज्ञान कभी नहीं हो सकता। परंतु यदि आत्मा में लीन होकर आत्मा को जाने तो आत्मा की केवलज्ञान शक्ति का विकास होने पर लोकालोक का पूर्ण ज्ञान सहज ही हो जाता है।—ऐसा स्वसन्मुख मार्ग है।

भाई, तेरा चैतन्य का मार्ग जगत से भिन्न है। जगत को एक ओर रखकर आत्मोन्मुख हो, तभी तुझे अपनी मुक्ति का मार्ग हाथ लगेगा।

ज्ञान का फल

अहो, अविनश्वर ज्ञान ही ज्ञान का प्रशंसनीय फल है। परंतु यह मोह का माहात्म्य है कि उसके अतिरिक्त अन्य फल भी प्राणी ढूँढ़ते हैं।—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदन्यदपि मृग्यते॥१॥

(गुणभद्रस्वामी)

प्रवचन वाटिका के
चुने हुए पुष्प

*** पहिचान**

भाई, जगत के साथ की पहिचान तुझे आत्मा में काम नहीं आयेगी; आत्मा की पहिचान ही काम आयेगी; इसलिये उसकी पहिचान कर। दुनियां के बड़े-बड़े लोगों से हमारी जान-पहिचान है—ऐसा मानकर संतुष्ट हो जाये और आत्मा को भूल जाये, परंतु भाई, दुनिया में सबसे बड़ा यह आत्मा है... इस महान पुरुष की पहिचान के बिना दुनिया की कोई पहिचान तुझे कहीं शरणभूत नहीं होगी; सच्चा शरणभूत आत्मा है, उसकी पहिचान कर।

*** ध्यान**

* निजस्वरूप पर दृष्टि लगा कि एक क्षण में मोक्ष।

* ऐसे निजस्वरूप के ध्यान का अभ्यास सदा कर्तव्य है।

* हे मोक्षार्थी! अन्य बहुत से बाह्य पदार्थों से तुझे क्या प्रयोजन?—इस चैतन्य परमात्मा का ही तू ध्यान कर।

* चैतन्य का वीतरागी ध्यान ही मोक्ष का कारण है, अन्य कोई मोक्ष का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह तीनों शुद्धात्मा के ध्यानरूप हैं।

*** आनंद का मार्ग भी आनंदरूप है**

मोक्ष परम आनंदधाम है; उसका मार्ग भी आनंदधाम में ही है; राग तो आकुलता का धाम है, वह कहीं आनंद का धाम नहीं है, इसलिये उसमें मोक्षमार्ग नहीं है। जिसप्रकार मोक्ष आनंदस्वरूप है, उसीप्रकार उसका मार्ग भी आनंदस्वरूप है; उसमें आकुलता का स्थान नहीं है, उसमें राग का स्थान नहीं है। राग, राग में रहा परंतु मोक्षमार्ग में नहीं है। जो भाव मोक्षमार्गरूप है, उसमें राग का अभाव है।

*** महत्त्वपूर्ण**

शुद्धस्वभाव को भूलकर राग को-व्यवहार को धर्म माननेवाले जीव निश्चय-व्यवहार दोनों को भूल रहे हैं; वे व्यवहार को तो उसकी मर्यादा से अधिक महत्त्व देते हैं और निश्चय का जो परम महत्त्व है, उसे भूल जाते हैं।

*** आत्मध्यान**

अंतर्मुहूर्त पहले चतुर्थ गुणस्थान में हों और अंतर्मुहूर्त पश्चात् सिद्धालय में पहुँच जायें—ऐसा अनेक जीवों को होता है। प्रथम सोलह तीर्थंकरों के तीर्थंकरत्व की उत्पत्ति के प्रथम ही दिन अमुक जीव अंतर्मुहूर्त में ही चारित्र एवं केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षदशा को प्राप्त हुए... ऐसा चैतन्यध्यान का अगाध सामर्थ्य है। इसलिये हे जीव! तू भी ऐसे आत्मध्यान में तत्पर हो।

*** जड़वादी**

इन्द्रियज्ञान से आत्मा ज्ञात हो जायेगा—ऐसा जो मानता है, वह आत्मा को जड़ मानता है, क्योंकि जो इन्द्रियज्ञान से ज्ञात हो, वह तो रूपी और जड़ होता है। राग भी इन्द्रियज्ञान की ही जाति है; उस राग द्वारा आत्मा ज्ञात हो जायेगा—ऐसा माननेवाला भी सचमुच आत्मा को जड़ मानता है; जड़ से भिन्न आत्मा को वह नहीं जानता।

चैतन्यमूर्ति अरूपी आत्मा तो इन्द्रियातीत ज्ञान का विषय है, राग से पार है। अचिंत्य आत्मस्वभाव को जाननेवाला ज्ञान भी अचिंत्य हो गया है।

*** ज्ञाता सबका, परंतु ज्ञेय कुछ का**

आत्मा समस्त द्रव्यों का ज्ञाता है, परंतु वह समस्त द्रव्यों का ज्ञेय नहीं है। जड़-चेतन सर्व पदार्थों को आत्मा जानता है, इसलिये ज्ञाता तो समस्त द्रव्यों का है; परंतु सामनेवाले चेतन पदार्थों का ही आत्मा ज्ञेय होता है, अचेतन पदार्थों का ज्ञेय आत्मा नहीं होता, क्योंकि अचेतन पदार्थों में ज्ञान नहीं है।

*** ज्ञाता एक, ज्ञेय समस्त**

ज्ञेय तो छहों द्रव्य हैं, परंतु ज्ञाता अकेला आत्मद्रव्य ही है। छहों द्रव्यों में ज्ञातापना एक जीव में ही है, ज्ञेयपना छहों में है; इसलिये आत्मा समस्त पदार्थों को जानता है, परंतु समस्त पदार्थ कहीं आत्मा को नहीं जानते। इसप्रकार ज्ञायकपने की विशिष्ट शक्ति आत्मा में ही है।

*** जिज्ञासावृत्ति**

'मैं आत्मा को जानूँ'—ऐसी जिज्ञासावृत्ति का जो उत्थान, उससे आत्मा अनुभव में नहीं आता। जब आत्मा अंतर में एकाग्र होकर निरालंबीरूप से स्वयं अपने को जाने-अनुभव करे, तब उस जिज्ञासावृत्ति का उत्थान मिट जाता है। जिज्ञासावृत्ति होती है, परंतु उस वृत्ति में ही

अटका रहे तो आत्मा जानने में नहीं आता, क्योंकि वृत्ति के अवलंबन से ही आत्मा ज्ञात नहीं हो जाता। उस वृत्ति के अवलंबन से हटकर, ज्ञान को निरालंबी करके अंतरोन्मुख करे, तभी आत्मा स्वानुभव से जानने में आता है। अरे, जहाँ जिज्ञासावृत्ति का भी अवलंबन नहीं है, वहाँ दूसरे राग का अथवा बाह्य निमित्तों का अवलंबन कहाँ से होगा ?

सम्यग्दृष्टि की महिमा (कवित्त)

स्वरूप रिझावारे से, सुगुणमतवारे से, सुधा के सुधारे से, सुप्रमाण दयावंत हैं।
सुबुद्धि के अथाह से सुरिद्ध पातशाह से, सुमन के सनाह से महा बड़े महंत हैं॥
सुध्यान के धरैया से सुज्ञान के करैया से, सुप्राण परखैया से स्वशक्ति अनंत है।
सबै संघ नायक से, सबै बोललायक से, सबै सुखदायक से सम्यक के संत हैं॥

(भैया भगवतीदास)

योगीन्दुदेव कृत योगसार पर

श्री कानजीस्वामी का प्रवचन

[ब्रह्मचारी हरिलाल जैन]

यह 'योगसार' है; उपयोग को शुद्धात्मा में लगाना, उसका नाम 'योग' है। ऐसे शुद्धोपयोगरूप ध्यान के द्वारा जिन्होंने सिद्धपद प्राप्त किया, उनकी प्रतीत करके साधक स्वयं भी उस मार्ग पर जाता है, यह सिद्धपद के मांगलिक का अपूर्व भाव है।

योगीन्दु स्वामी करीब १४०० वर्ष पहले इस भरतक्षेत्र में विचरनेवाले महान दिगम्बर संत थे। उन्होंने परमात्मप्रकाश जैसा महान शास्त्र रचा है। यह योगसार भी उन्हीं का रचा हुआ है। इसके प्रारम्भ में मंगलरूप से सिद्धों को नमस्कार करते हैं—

निर्मल ध्यान में स्थित हो, कर्म कलंक नशाय।
भये सिद्ध परमात्मा, वंदूँ वे जिनराय॥१॥

आत्मा के निर्मल ध्यान में स्थित होकर जिन्होंने कर्म कलंक को नष्ट किया और परम आत्मस्वरूप को प्राप्त किया—ऐसे सिद्ध परमात्माओं को हम नमस्कार करते हैं। आत्मा के ध्येयरूप जो सिद्धपद, उस सिद्ध भगवान जैसा आत्मस्वरूप, उसको प्रतीत में लेकर के ध्यान के द्वारा उसमें उपयोग को जोड़ना–इसका नाम योग है; और इसके लिये वह उपदेश है। ऐसे योग के द्वारा ही कर्मकलंक का नाश करके सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

सभी आत्मा स्वभाव सत्ता से शुद्ध सिद्ध भगवान जैसे हैं; ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप में विकार की सत्ता नहीं है। ऐसे शुद्धात्मस्वरूप को ध्येय में लेकर के ध्याना, वही कर्म के नाश का व सिद्ध होने का उपाय है। ऐसे उपाय से सिद्ध पद को साधते–साधते योगीन्दु मुनिराज यह शास्त्र रचते हैं और मंगलाचरण में सिद्ध को नमस्कार करते हैं।

सिद्धि का पंथ क्या है ? निर्मल आत्मा का ध्यान करना, वह सिद्धि का पंथ है।

सम्यग्दर्शन की रीत भी यही है; आत्मा के ध्यान से ही सम्यग्दर्शन होता है और सिद्धिपंथ की शुरुआत होती है।

अतीन्द्रिय आनंद से भरा हुआ आत्मा, उसके सन्मुख देखने से उसके परम आनंद का वेदन होता है। इसके सिवाय जगत में अन्य किसी पदार्थ में सुख का अंश भी नहीं। भाई ! तेरा

सुख तेरे अस्तित्व में है, दूसरे के अस्तित्व में तेरा सुख नहीं है। जहाँ अपना सुख भरा हो, वहाँ देखे तब तो सुख का अनुभव होगा। सर्वज्ञ सिद्धपरमातमा को देहातीत पूर्ण आनंद प्रगट हुआ है और सभी आत्माएँ ऐसे ही पूर्ण आनंद से भरपूर हैं, ऐसा उन भगवान ने देखा है। ऐसे भगवान को नमस्कार करना, वह मंगल है, उसमें अपने शुद्ध आत्मा की प्रतीत भी साथ में आ जाती है।

सिद्ध भगवान ने शुद्ध आत्मा में उपयोग जोड़कर सिद्धपद प्राप्त किया, उनको मैं नमस्कार करता हूँ; इसका यह अर्थ है कि मैं भी ऐसे मेरे शुद्धात्मा के उपयोग को जोड़ता हूँ। इस तरह अपने शुद्धात्मा के ध्यान की रुचि व तमन्ना लगी है। संसार से भयभीत होकर मोक्ष को साधने की भावनावाला वह जीव अपने उपयोग को शुद्ध आत्मस्वरूप में लगाता है।

देखो, मंगलाचरण में कर्म के नाश का उपाय भी साथ में दिखाया, कि शुद्धात्मा में उपयोग का जोड़ना, वही कर्म के नाश का उपाय है। सिद्ध भगवान इस रीति से कर्मकलंक को दग्ध करके सिद्धि पाया—ऐसी प्रतीत करके यह आत्मा भी उसी मार्ग की ओर जाता है अर्थात् शुद्धात्मा में उपयोग को जोड़ता है। इसका नाम 'योग' है, वह मंगल है और मोक्ष का कारण है।

जो सिद्ध हुए, वे आत्मा भी सिद्ध होने के पहले बहिरात्मा थे; बाद में अपने परम स्वभाव को जानके, राग की व ज्ञान की भिन्नता के भाने से वे अन्तरात्मा हुए, और शुद्ध परम स्वभाव का ध्यान कर-करके परमात्मा हुए। ऐसे परमात्मा के जैसा ही परम स्वभाव मेरे में है—ऐसा लक्षगत करके मैं उन सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ।

समयसार में भी 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' ऐसे मांगलिक के द्वारा सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करते हुए कहते हैं कि—अहो! आत्मा के इष्ट-ध्येयरूप ऐसे सर्वसिद्धों को मैं मेरे व श्रोताओं के आत्मा में बुलाता हूँ, उनका आदर करता हूँ, श्रद्धा-ज्ञान में लेता हूँ। अनंत सिद्धों का जो समूह सिद्धनगरी में बस रहा है, उसको मैं मेरे ज्ञान में स्थापित करता हूँ।

ऊर्ध्वलोक की सिद्धनगरी में विराजमान सिद्धों को प्रतीत बल से मेरे आत्मा में उतारता हूँ। मेरे श्रद्धा-ज्ञानरूपी आंगन को स्वच्छ करके मैं सिद्ध भगवंत का सत्कार करता हूँ और इसके सिवाय समस्त परभावों का आदर छोड़ता हूँ; इस विधि से मेरी परिणति को राग से भिन्न करके अंतर के सिद्ध स्वरूप के साथ अभेद करता हूँ। इस अभेद परिणति में अनंत सिद्ध समाते हैं।

वाह! देखोजी, यह सिद्ध पद के मांगलिक का अपूर्व भाव। सबको भूल के सिद्ध पद को याद करते हैं... सिद्ध पद ही हमारे ज्ञान के सन्मुखता दिखता है, वह ही आदरणीय है, जगत

में रागादि दूसरा कुछ भी मेरे आदरणीय नहीं है; इसप्रकार रुचि को मेरे शुद्ध आत्मा की ओर झुका के हे सिद्ध भगवंतों मैं आपको देखता हूँ। मेरे आत्मा के असंख्य प्रदेश में मैं श्रद्धा-ज्ञानरूपी महल बाँधता हूँ, उसमें आकर के हे सिद्धप्रभु! आप बसो। मेरे ज्ञान में मैं राग को नहीं बसाता। मैं तो सिद्ध जैसे शुद्ध स्वरूप को ही मेरे ज्ञान में बसाता हूँ; सिद्ध समान स्वशक्ति का भरोसा करके मैं सिद्धों का आदर करता हूँ। ऐसा भाव प्रगट करना, वह अपूर्व मांगलिक है।

'योगसार' की पहली गाथा में सिद्धों को नमस्कार करके दूसरी गाथा में अरिहंतों को नमस्कार किया है। अपने शुद्धात्मा में उपयोग को जोड़कर इस शुद्धोपयोग के बल से जिन्होंने चार घातिकर्मों का क्षय किया और केवलज्ञानादि चतुष्टय प्रगट किया, ऐसे अरिहंत परमात्मा के चरणों में वंद करके यह इष्ट काव्य (योगसार-दोहा) रचता हूँ। किसके लिये?—उसके लिये कि जो संसार की चारों गतियों के दु:खों से भयभीत हो करके आत्मा के मोक्ष सुख का ही अभिलाषी है।

केवलज्ञानादि सहित अरिहंत परमात्मा अभी विदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान हैं। सीमंधरादि बीस तीर्थंकर तथा अन्य लाखों केवली भगवंत—इन सब अरिहंत भगवंतों को अपने ज्ञान में जिसने स्वीकार किया, उसको सम्यग्दर्शन हुये बिना नहीं रहता। जो जीव अरहंतदेव को पहचानता है, उसको अवश्य सम्यग्दर्शन होता है—यह कुन्दकुन्दस्वामी का वचन है।

अहा! कुन्दकुन्दस्वामी ने तो अरहंत परमात्माओं को साक्षात् देखे थे, समवसरण की यात्रा की थी। अरहंत परमात्मा सर्वज्ञ हुए हैं, राग का एक अंश भी उनको नहीं रहा; मैं भी ऐसे अरहंतों की जाति का हूँ, मेरा स्वभाव भी उनके जैसा ही है—इस तरह स्वभाव को प्रतीत करने से साधकपना खिलता है। साधक कहता है कि मैं सिद्धप्रभु के वंश का हूँ।

प्रभो! आपकी व मेरी जाति एक सी है; मैं भी आपके जैसा मेरे स्वरूप का अनुभव करता हुआ अल्प काल में ही आपके पास आनेवाला हूँ—देखो, यह अरिहंतों व सिद्धों को वंदन करने की रीत!

भगवान जैसा ही मेरा स्वभाव का स्वीकार करके मैं भगवान को नमस्कार करता हूँ। 'मैं' कैसा हूँ? कि 'ज्ञानदर्शन स्वभावमय मैं हूँ।' भगवान की जाति से अपनी जाति को अलग (भिन्न तरह की) रखके सच्चा नमस्कार नहीं हो सकता। जैसा भगवान, वैसा मैं - ऐसी

प्रतीतपूर्वक स्वसन्मुख परिणति प्रगटे, वह परमार्थ नमस्कार है। ऐसे नमस्कार के द्वारा साधक अपनी पर्याय में अरहंत पद व सिद्धपद का लाभ प्राप्त करता है। यही सबसे बड़ा लाभ है। आत्मा केवलज्ञान व सिद्धपद को पावें – इसके जैसा महान लाभ कौन हो सकता है ?

जिसके चित्त में भवदु:ख का भय है और मोक्षसुख की अभिलाष है (सुख चाहें, दु:खतें भयवंत), ऐसे आत्मा को संबोधन करने के लिये, एवं अपने चित्त की एकाग्रता के लिये यह दोहे बनाये हैं।

इसप्रकार मोक्ष के अभिलाषी जीवों के लिये यह उपदेश है। जिसको राग की या पुण्य की रुचि हो, स्वर्ग के वैभव की जिसको तृष्णा हो, और उसमें जिसको सुख लगता हो, ऐसे जीव को शुद्धात्मा के ध्यान का यह उपदेश रुचिकर नहीं होगा। किंतु जिस जीव को आत्मा के अनाकुल (निर्विषय) अतीन्द्रिय सुख की ही लगन है; राग की-पुण्य की-संयोग की रुचि-लगन नहीं है, चारों गति के दु:ख से जो भयभीत है, ताप में (धूप में) पड़ी हुई मच्छी पानी के लिये ज्यों तड़पती है, त्यों चार गति के दु:ख से त्रस्त होकर जो जीव चैतन्य की परम शांति के लिये तड़पता है, इसके सिवाय दूसरे किसी की भी चाहना जिसको नहीं है – ऐसे मोक्षाभिलाषी भव्य जीव के लिये यह योगसार के १०८ दोहों की रचना है। अपने आत्मा को संबोधन करने की मुख्यतासहित भव्य जीवों के लिये यह रचना हुई है।

अरे, इस संसार में कही सुख नहीं है, सुख तो अंतर के स्वभाव में है। उस स्वभाव के अभिलाषी को संसार की जेल में कहीं भी चैन नहीं पड़ता, त्रास लगता है, जैसे—दो दिन बाद किसी को फाँसी (देहान्त दण्ड) देने का निश्चित हुआ हो तो वह मनुष्य भयभीत रहता है और सब चीज़ से उसका रस छूट जाता है; वैसे आत्मा के सुख के अभिलाषी मोक्षार्थी जीव को चारों गति के अवतार त्रासरूप लगता है, सारे जगत से उसका रस छूट जाता है, पुण्य का रस (प्रेम) उड़ जाता है और एकमात्र आत्म सुख की ही लगन लगती है। ऐसे जीव को आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये वीतरागी दिगम्बर संत पूज्यपाद स्वामी का यह उपदेश है।

अच्छी-अच्छी आठ बातें

[पूज्य स्वामीजी का उपदेश कितना शांत, सरल व आत्मलक्ष्मी है! उसमें सर्वज्ञ का बहुमान, मुनिवरों की भक्ति और साधर्मी के वात्सल्य आदि की भी प्रेरणा मिलती है। हम पूज्यश्री के प्रवचन में से अच्छी-अच्छी आठ बातें प्रस्तुत करते हैं, जो आपको पसन्द आयेंगी।]

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

(१) स्वानुभव के किरण में मोक्षमार्ग—

स्वानुभवरूपी सूर्य की किरण से ही मोक्षमार्ग दिखता है। जहाँ स्वानुभव की किरण नहीं, वहाँ मोक्षमार्ग दिखता नहीं। राग तो अंधकारमय बन्धभाव है, उससे मोक्षमार्ग कहाँ से सधे? अरे, बंधभाव व मोक्षभाव के बीच भी जिसको विवेक नहीं है, उसको शुद्धात्मा का वीतरागी संवेदन कहाँ से होगा? और स्वानुभव की किरण फूटे बिना मोक्षमार्ग का प्रकाश कहाँ से होगा? पुण्य-राग की रुचि वालों को स्वानुभव की कणिका भी नहीं है, तब मोक्षमार्ग कैसा? स्वानुभव के सिवाय अन्य जो कोई भाव करें, वह सब भाव बन्धमार्ग में हैं, वह कोई भाव मोक्षमार्ग में नहीं आते और न उनके मोक्षमार्ग सधता है। स्वानुभवरूपी सूर्य का उदय हो तभी मोक्षमार्ग सच्चा।

(२) ज्ञान-आनंद की भरती—

सम्यग्दृष्टि को आत्मिक आनंद का वेदन करता हुआ ज्ञान अंतर्मुख उछलने लगा है, वह किसी से रुकता नहीं। इन्द्रियादि कमजोर होवे तो भी ज्ञान की भरती रुकती नहीं। और जहाँ ऐसा ज्ञान नहीं है, वहाँ इन्द्रिय-मन के अवलंबन से ज्ञान में भरती नहीं आ सकती, परलक्षी शास्त्रज्ञान से भी ज्ञान में भरती नहीं आती। भगवान आत्मा निज स्वभाव के आनंद को अनुभवता हुआ उल्लसित हुआ, तब पर्याय में धर्मात्मा को जो ज्ञान-आनंद की भरती आयी, तो अपूर्व लब्धि उल्लसी वह किसी से रुकेगी नहीं, वह पीछे हटेगी नहीं।

(३) मूल वस्तु-स्वानुभूति—

बाहर की दूसरी बात याद रहो या न रहो, परंतु धर्मी को चैतन्य तत्त्व के स्वानुभव से स्वभाव का जो अवग्रह-ईहा अवाय-धारणा हुआ, वह भवांतर में भी नहीं भूली जायेगी।

स्वानुभूति की जिस भरती से चैतन्य समुद्र उल्लसित हुआ, वह अब केवलज्ञान प्रगट करेगा ही। और जहाँ ऐसे चैतन्य की अनुभूति नहीं, वहाँ बाहर के हजारों उपायों से या जानकारी से भी पर्याय में ज्ञान-आनंद की भरती नहीं आ सकती। इस तरह चैतन्य की अनुभूति ही मूलवस्तु है, उसी में आनंद की भरती है।

(४) धर्मात्मा की अपूर्व लब्धि—

धर्मी जीव नित्य आनंद के भोजी हैं, नित्य आनन्द को ही वह भोगते हैं। यह आनंदवेदन ही मूल वस्तु है। सम्यग्दर्शन हुआ, तब ऐसा अपूर्व आनंदवेदन हुआ, वह अपूर्वलब्धि है। ऐसे आनंद के वेदन के बिना अपूर्वलब्धि कहलाती नहीं और सम्यक्त्व होता नहीं। अहा, अपूर्वलब्धि धर्मात्मा ने प्राप्त की है। जो ज्ञान-आनंद पूर्व में कभी लब्ध नहीं हुआ था, उस ज्ञान-आनंद की अपूर्वलब्धि हुई, सिद्धों के साथ एकता हुई, सत्ता को भिन्न रखते हुए जाति अपेक्षा से एकता हुई, वह जीव सिद्धों की पंक्ति में बैठा, ऐसी अपूर्वलब्धि सम्यक्त्व में प्राप्त हुई है।

(५) आनंद के दरबार में अमृत पिया—

स्वानुभव से निर्विकल्प आनंदरूपी अमृत जिसने पिया, वह आत्मा 'सजीवन' हुआ। पहले विभावों के साथ एकत्व करके मिथ्यात्वरूपी जहर से भावमरण में मरता था, परंतु जब भेदज्ञान द्वारा विभाव से भिन्न चैतन्यस्वभाव को अनुभव में लिया, तब अतीन्द्रिय आनंदरूपी अमृत संजीवनी का अनुभव करता आत्मा सजीवन हुआ, मरण से रहित अमर हुआ। अहो! ऐसा ज्ञान जिसको प्रगटा, उसकी महिमा की क्या बात? वह परमात्मा का पुत्र हुआ, वह सर्वज्ञ का नंदन हुआ, आनंद के दरबार में उसने प्रवेश किया—वहाँ अब आनंद का ही वेदन है।

(६) भीतर का पाताल खोद के आनंदधारा उल्लसी

जैसे घर में जाने के लिये उसका किवाड़ खटखटावे, वैसे चैतन्यस्वभाव के घर में प्रवेश करने के लिये उसका किवाड़ (कपाट) खटखटाऊँ, अर्थात् उस स्वभाव की पकड़ करके उसका पक्ष करे। स्वभाव का पक्ष करके उसमें जिसने प्रवेश किया, वह जीव आत्मिक आनंद को भोगता है। सातवें नरक में भी असंख्य जीव सम्यग्दर्शन पाये हुए हैं, वे सातवें नरक में भी आनंदामृत का भोजन करते हैं। बाहर से चावल का एक कण या पानी एक बूँद भी नहीं मिलती, किंतु भीतर में चैतन्य भंडार का पाताल खोल के अतीन्द्रिय आनंदरूपी अमृत का

भोजनपान करते हैं। अरे, क्या नरक में भी आनंद का वेदन ?—हाँ, भाई! सम्यग्दृष्टि को वहाँ भी आनंद का वेदन है, किंतु वह आनंद नरक में नहीं; आनंद तो आत्मा में है। निजात्मा में से धर्मी जीव आनंद को निकालता है। वह आनंद, जैसे बाह्य संयोग में से आया नहीं, वैसे बाह्य प्रतिकूल संयोग से वह रुकता भी नहीं। भेदज्ञानरूपी छैनी से भीतर का पाताल खोल के जिस आनंद की धारा उल्लसी, वह किसी से रोकी नहीं जा सकती। वह अत्यंत धीर है, गंभीर है, उसका प्रवाह अटूट है। उसमें वृद्धि होकर के केवलज्ञान होगा।

(७) सम्यग्दर्शन जयवंत है—

जयति सुखनिधानं मोक्षवृक्षैकबीजं,
सकलमलविमुक्तं दर्शनं यद्बिना स्यात्।
मतिरपि कुमतिर्नुदुश्चरित्रं चरित्रं,
भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ॥७७॥

धर्मोपदेशरूपी अमृत वर्षाते हुये श्री पद्मनंदीस्वामी कहते हैं कि वह सुखनिधान सम्यग्दर्शन इस जगत में जयवंत है कि जो मोक्ष वृक्ष का एक बीज है, जो सकल मल से विमुक्त है, जिसके बिना मति तो कुमति है और चारित्र, दुश्चारित्र है, और प्राप्त हुआ यह मनुष्य जन्म भी जिसके बिना नहीं प्राप्त होने के समान है। ऐसा सम्यग्दर्शन ही प्रथम कर्तव्य है।

(८) वह मोक्ष कहाँ से पायेगा ?

परमात्मप्रकाश में कहते हैं कि—

दाणु ण दिण्णउ मुनिवरहे, णवि पुज्जिउ जिण-णाहू।
पंच ण वंदिउ परमगुरु, किमु होसइ सिव लाहु॥१६८॥

जिसने रत्नत्रय के आराधक मुनिवरों को भक्तिपूर्वक दान दिया नहीं, अनंत गुणधारी जिननाथ को जिसने पूजा नहीं और पंच परमगुरु की भक्तिपूर्वक वंदना जिसने नहीं की—उस श्रावक को मोक्षलाभ कहाँ से होगा ?

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं!

विद्वद्रत्न श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी, एडवोकेट

[विवाह में घुड़चढ़ के समय वर (दूल्हा) के साथ एक छोटा बच्चा भी घोड़े पर बैठा दिया जाता है। उन्हें देखकर कोई वास्तव में दो दूल्हा समझ ले तो अज्ञानता ही होगी। उनमें से वर तो एक ही है। इसीप्रकार निश्चयमोक्षमार्ग के साथ रागरूप व्यवहार भी साथ ही चलता है। अतः उसका वर्णन भी आगम ग्रंथों में आता है किन्तु वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है। वीतरागता के साथ यह राग प्रवृत्ति चलती अवश्य है किंतु वह तो छूट जाती है, वह मोक्षमार्ग कैसे हो सकती है? इस विषय में विद्वान लेखक के प्रमाण पठनीय हैं।]

श्री पद्मनंदी पंचविंशतिः में से

(१) श्री धर्मोपदेशामृत अधिकार, गाथा ७७ सम्यग्दर्शन की महिमा, पृष्ठ ३३ (शोलापुर से प्रकाशित)

(२) श्री धर्मोपदेशामृत अधिकार, गाथा ८१।

निश्चय मोक्षमार्ग मुक्ति का कारण और व्यवहार मोक्षमार्ग संसार परिभ्रमण का ही कारण है। इसप्रकार दो मोक्षमार्ग नहीं हैं, एक ही है। पृष्ठ ३४

(३) श्री धर्मोपदेशामृत अधिकार, गाथा ८१ की संस्कृत टीका बहुत स्पष्ट है। पृष्ठ ३४।

(४) श्री धर्मोपदेशामृत अधिकार, गाथा १२६-समस्त श्रुत में एक आत्मा ही उपादेय और अन्य सब हेय हैं। पृष्ठ ४९

(५) श्री धर्मोपदेशामृत अधिकार, गाथा ८९ में आर्जव धर्म का फल स्वर्ग है। पृष्ठ ३९

(६) श्री धर्मोपदेशामृत अधिकार, गाथा १३२ में आत्मा ही धर्म है अन्य कोई नहीं। पृष्ठ ५१-५२

(७) श्री 'दान-उपदेशन' अधिकार की गाथा २६ में 'व्रत दान पुण्य होने' से उसका फल स्वर्ग है। पृष्ठ ८५।

(८) श्री एकत्व सप्तति अधिकार ४, गाथा २८ में धर्मी जीव के शुभ-अशुभ भावों को

क्रूर निशाचर और राक्षस कहा है। पृष्ठ ११६।

(९) श्री एकत्व सप्तति अधिकार ४, गाथा ३२—निश्चय मोक्षमार्ग अमृत है और व्यवहार मोक्षमार्ग संसार का कारण है। पृष्ठ ११७।

(१०) श्री धर्मोपदेशाधिकार १, गाथा १६९-'भक्ति' से धर्म नहीं। धर्म का स्वरूप अन्य है। पृष्ठ ६८-६८।

(११) श्री उपासक संस्कार अध्याय ६, गाथा २, ४, ५ में गृहस्थ के निश्चयधर्म आंशिक होता है। पृष्ठ १२८।

(१)

श्री धर्मोपदेशामृत अधिकार

सम्यग्दर्शन की महिमा

जयति सुख निधानं मोक्षवृक्षैक बीजं।
सकल मल विमुक्तं दर्शनं यद्विनास्यात्॥
मतिरपि कुमतिर्तु दुश्चरित्रं चरित्रं।
भवति मनुज जन्म प्राप्तम् प्राप्तमेव॥७७॥

अर्थ—जिस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र हुआ करता है, वह सुख का स्थानभूत मोक्षरूपी वृक्ष का अद्वितीय बीज स्वरूप तथा समस्त दोषों से रहित सम्यग्दर्शन जयवंत हो।

उक्त सम्यग्दर्शन के बिना प्राप्त हुआ मनुष्य-जन्म भी अप्राप्त हुए के समान होता है। (कारण कि मनुष्य जन्म की सफलता सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में ही हो सकती है, सो उसे प्राप्त किया नहीं) पृष्ठ ३३।

[नोट—अपने शुद्धात्मा में रुचि और आस्रवतत्त्वरूप पुण्यभाव में रुचि परस्पर विरुद्ध है। सम्यग्दृष्टि को पुण्य की रुचि नहीं होती। पुण्यभाव होता है।]

(२)

निश्चय मोक्षमार्ग बंध का विनाश करता है और 'व्यवहार मोक्षमार्ग से कर्म बंध होता है', जो संसार परिभ्रमण का ही कारण है। इसप्रकार दो मोक्षमार्ग नहीं हैं, एक ही है - ऐसा श्रुत निपुण ज्ञानधारी कहते हैं:—

दृष्टि निर्णीतिरात्माध्वय विशद महस्यत्र बोधः प्रबोधः।
शुद्धे चारित्रमत्रास्थिरिति युगपद बन्ध विध्वंसकारि॥
बाह्य बाह्यार्थमेव त्रितयमपि परंस्यत्वशुभो वा अशुभो वा।
बंध संसारमेव श्रुतनिपुणधियं साध्यस्तं वदन्ति॥८१॥

अर्थ—आत्मा नामक निर्मल तेज के निर्णय करने अर्थात् अपने शुद्धात्मा में रुचि उत्पन्न होने का नाम सम्यग्दर्शन है। उसी आत्मस्वरूप में लीन होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

ये तीनों एक साथ उत्पन्न होकर बंध का विनाश करते हैं 'बाह्य रत्नत्रय' केवल बाह्य पदार्थों (जीवाजीवादि) को विषय करता है और उससे 'शुभ अथवा अशुभ कर्म का' बंध होता है, जो संसार परिभ्रमण का ही कारण है। इसप्रकार आगम के जानकार साधुजन निरूपण करते हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में से प्रत्येक व्यवहार और निश्चय के भेद को दो प्रकार का है। इनमें जीवादि सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धानज्ञान करना, व्यवहार सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। 'अशुभ क्रियाओं का परित्याग करके शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होने को' व्यवहार सम्यग्चारित्र कहा जाता है।

देहादि से भिन्न आत्मा में रुचि होने का नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। आत्मस्वरूप के अवबोध को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आत्मस्वरूप में लीन रहने को निश्चयसम्यग्चारित्र कहते हैं। 'इनमें व्यवहार रत्नत्रय शुभ और अशुभ कर्मों के बंध का कारण होने से स्वर्गादि अभ्युदय का निमित्त होता है।' किंतु निश्चयरत्नत्रय शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के ही कर्मों के बंध को नष्ट करके मोक्ष सुख का कारण होता है॥८१॥ इसप्रकार रत्नत्रय के स्वरूप का निरूपण किया।'

(३)

इस धर्मोपदेशामृत अधिकार गाथा ८१ की संस्कृत टीका बहुत स्पष्ट है और समझने में भी सरल है। इसलिये यहाँ पर दी जाती है। वह निम्न प्रकार है:—

''आत्माध्य विशदमहषि निर्णीति दृष्टिः निर्णयं दर्शनं भवति। अत्र आत्मनिबोधः प्रबोधः ज्ञानं भवति। अत्र आत्मनि स्थितिः 'शुद्धं चारित्रं भवति।' इति त्रितयमपि। युगपत् बंध विध्वंसकारि कर्म बंध स्फोटकम्।

'त्रितयं बाह्य रत्नत्रय व्यवहार रत्नत्रयं' बाह्यार्थं सूचक जानीहि पुनः बाह्यं रत्नत्रयं परं

अशुभोवा शुभो वा बन्धः स्याद्भवेत। श्रुतनिपुणधियः मुनयः बाह्यार्थः संसारम् एव वदंति कथयन्ति ॥८॥ इति रत्नत्रय स्वरूपम।'' पृष्ठ ३४

बाह्य रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय, 'अशुद्ध रत्नत्रय' भेदरत्नत्रय बाह्य मोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग, अशुद्धमोक्षमार्ग, भेदमोक्षमार्ग यह एब एकार्थ है।

अंतरंग (अभ्यंतर) रत्नत्रय, निश्चयरत्नत्रय, शुद्धरत्नत्रय, अभेदरत्नत्रय, अभ्यंतर मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग, शुद्ध मोक्षमार्ग, अभेद मोक्षमार्ग यह सब एकार्थवाचक है।

नोट—(१) श्री पंचास्तिकाय, गाथा १६४ के अंत में श्री जयसेनाचार्य, पृष्ठ ३८० में कहते हैं कि 'इस तरह शुद्ध रत्नत्रय से मोक्ष व अशुद्ध रत्नत्रय से पुण्य होता है, ऐसा कहते हुए गाथा पूर्ण हुई' श्री महावीरजी से प्रकाशित।

(२) बाह्य का अर्थ है। 'बहिरंग सहकारी कारण' अर्थात् 'निमित्त', देखो पृष्ठ ७४, श्री परमात्मप्रकाश, अध्याय १, गाथा ९८। निश्चयरत्नत्रय पर निरपेक्ष है। देखो श्री नियमसार, गाथा २ टीका।

(४)

आचार्यदेव गाथा १२६ में कहते हैं कि 'सब श्रुतों का सार अपना ज्ञायकस्वभावरूप आत्मा उपादेय है, अन्य सब हेय है।' वह निम्नप्रकार है:—

''उक्तं जिनैर्द्वादिश भेदभंगश्रुत ततो बाह्य मनंत भेदतया तस्मिन्नुपादेय तया चिदात्मा ततः परं हेय तयाभ्यधायि ॥१२६॥

अर्थ—जिनदेव ने अंगश्रुत के बारह तथा अंग बाह्य के अनंत भेद बतलाये हैं। इन दोनों ही प्रकार के श्रुत में 'चेतन आत्मा को' ग्राह्य रूप से तथा उससे भिन्न पर पदार्थों को हेयरूप स्वरूप से निर्दिष्ट किया गया है।

विशेषार्थ—इस समस्त ही श्रुत में 'एकमात्र आत्मा को उपादेय बतलाकर', 'अन्य सभी पदार्थों को हेय बतलाया गया है।' श्रुत के अभ्यास का प्रयोजन भी यह है, अन्यथा ग्यारह अंग नौ पूर्व का अभ्यास करके भी द्रव्यलिंगी मुनि संसार ही परिभ्रमण किया करते हैं।'' पृष्ठ १२६

[नोट—जीव को पुण्यभाव की रुचि रहे और आत्मा भी उपादेय रहे, ऐसी परस्पर विरुद्ध बातें बन नहीं सकती हैं। द्रव्यलिंगी मुनि पुण्य की तथा शरीर की क्रिया संबंधी सूक्ष्म

रुचि नहीं छोड़ता है। इसलिये वे मिथ्यादृष्टि रहते हैं, तो जिसको पुण्य की प्रबल रुचि है, उसका संसार परिभ्रमण न हो, ऐसा नहीं बन सकता। श्रद्धा में आत्मा उपादेय और अन्य सब जिसमें पुण्यास्रव हेय न हो तो अनादि का अग्रहीत मिथ्यादर्शन छूटता नहीं है। जीव को अनादि से पुण्य की प्रबल रुचि और निज शुद्धात्मा की प्रबल अरुचि चली आती है। उसको छुड़ाने के लिये आचार्यदेव ने सारे श्रुत का सार यहाँ बताया है। और पुण्य की रुचि का पलटा हुवे बिना जीव के धर्मोपदेशामृत अपने में परिणमता नहीं है।]

(५)

भावलिंगी मुनि के व्यवहार आर्जवधर्म का फल स्वर्ग है, ऐसा गाथा ८९ के पृष्ठ ३७ में निम्नप्रकार से कहते हैं।

हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत्।
धर्मो निकृतिर धर्मोद्वाबिह सुरसद्य नरक पथो॥८९॥

अर्थ—जो विचार हृदय में स्थित है, वही वचन रहता है तथा बाहिर फलता है अर्थात् शरीर से भी तदनुसार ही कार्य किया जाता है, वह आर्जव धर्म है। इसके विपरीत दूसरों को धोखा देना, यह अधर्म है, ये दोनों यहाँ क्रम से देवगति और नरकगति के कारण हैं॥८९॥

[नोट—शुभभाव सम्यग्दृष्टि का हो कि मिथ्यादृष्टि का हो उसका फल देवगति है। शुद्धभाव एक ही अबंधक स्वभावी है, ऐसा यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं। यहाँ 'धर्म' से व्यवहार धर्म समझना।]

(६)

'अपना त्रैकालिक ज्ञायकस्वभावरूप आत्मा का' आश्रय ही धर्म है। जितने अंश में आत्मा की सन्मुखता है, उतने अंश में धर्म है। पूर्ण सन्मुखता हो तो पूर्ण धर्म है। ऐसा गाथा १३३ में निम्न प्रकार कहा है।

शान्ते कर्म च्युति सकलक्षेत्र कालादि हेतौ,
लब्ध्वा स्वास्थम् कथमपि लसद्योग मुद्रावशेषम्।
आत्मा धर्मोदयम् सुख स्फरित संसारगर्ता,
दुद्धत्व स्वं सुखमय पदे धारयत्यात्मनैव॥१३३॥

अर्थ—कर्म के उपशांत होने के साथ योग्य समस्त क्षेत्र, कालादि सामग्री के प्राप्त हो

जाने पर केवल 'ध्यान मुद्रा से संयुक्त स्वास्थ्य' (आत्मस्वरूपस्थता) को जिसप्रकार से प्राप्त करके चूंकि यह आत्मा दुखों से परिपूर्ण संसाररूप गड्ढे से अपने को निकालकर अपने आप ही सुखमय पद अर्थात् मोक्ष में धारण कराता है 'अतएव वह आत्मा ही धर्म कहा जाता है।'

नोट—आत्मा के स्वाश्रय से ही धर्म होता है। पराश्रय से जीव को शुभाशुभ भाव होता है। अत: दोनों धर्म नहीं है किंतु बंध का ही कारण है। इसलिये अपने में धर्म प्रकट करने के लिये अपने आत्मा का आश्रय करना चाहिये। *(क्रमशः)*

मूर्तिपूजा की महत्ता

स्वामी कर्मानंदजी के जैनधर्म स्वीकार करने पर उनसे किसी जिज्ञासु ने पूछा—स्वामीजी! आप तो मूर्तिपूजा के विरोधी थे, आपने मूर्तिपूजा की मान्यता कैसे स्वीकार कर ली? स्वामीजी ने कहा—दिन का देखा हुआ आकर्षक चित्र तो रात्रि को भी स्वप्न में दिखने लगता है, मैं मूर्तिपूजा को मान्यता कैसे न दूँ। विरोध तो पंथ-मोहवश करता था।

जयपुर में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी स्मृति भवन
उद्घाटन के लिये
सादर आमंत्रण पत्र

सोनगढ़, तारीख ६-९-६६ हम जयपुर निवासी सबके लिये आज बड़ा सौभाग्य का दिवस है। जिस परम पुनीत कार्य के सम्पन्न करने की प्रार्थना करने हम उपस्थित हुए हैं। उसके निवेदन करने में हमको बहुत उत्साह-आनंद एवं हर्ष हो रहा है।

दिगंबर जैन धर्म के बिल्कुल पक्के अनुयायी एवं प्रबल प्रचारक, अध्यात्मूर्ति परम उपकारी श्री कानजीस्वामी की भवभेदिनी एवं आत्मशांति प्रदायिनी अमृतवाणी हृदय के कपाट खोल देती है। आप जिस यथार्थ मोक्षमार्ग की साधना में निरंतर तत्पर हैं—उस ही का अनवरत रूप से उपदेश कर रहे हैं। भगवान महावीर से लगाकर परंपरारूप से चले आ रहे इस मोक्षमार्ग को अक्षुण्ण बनाये रखने की कड़ी के रूप में अनेक ज्ञानी महात्मा सत्पुरुष हो गये हैं, उनके प्रति आपकी अपार श्रद्धा एवं भक्ति का वर्णन सुनकर हमारा हृदय आनंद से उछलने लगता है।

उन्हीं ज्ञानी पुरुषों में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी साहिब हो चुके हैं। उनके प्रति, एवं उनकी कृति मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रति आपकी श्रद्धा देखकर एवं आपके मुखारविंद से उनकी महिमा सुनकर मेरी भी उस महापुरुष के प्रति हृदय में अपूर्व भक्ति जागृत हुई है और विचार उत्पन्न हुआ है कि जिस स्थान का मैं रहनेवाला हूँ, उस जयपुर नगर को एवं मेरे ही गोत्र गोदीका वंश को इस महान पुरुष को उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अतः उस जयपुर नगर में जिससे उनकी पवित्र कीर्ति अक्षुण्ण बनी रहे, एवं उनका उपदेशित मार्ग सतत् प्रकाशित, प्रचारित होता रहे, ऐसा एक स्मारक (स्मृति) भवन बनाया जावे। इसी भावना को लेकर मैंने जयपुर नगर के शिक्षा प्रधान क्षेत्र बापूनगर में विश्वविद्यालय के समीप एक सुंदर स्थान पर १०५ × ६५ फुट लंगा चौड़ा विशाल हॉल सहित श्री टोडरमलजी स्मृति भवन की स्थापना की है—जिसका शिलान्यास समारोह पूज्य श्री कानजीस्वामी के उदारमना, मनोज्ञवक्ता, परम शिष्य श्रीमान् माननीय ब्रह्मचारी श्री खेमचंदभाई के हस्त से दिनांक २० फरवरी सन् १९६५ को कराया गया था।

वह स्मृति भवन आज लगभग बनकर तैयार हो गया है, और उसकी उद्घाटन समारोह एवं जिन चैत्यालय में जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा को विराजमान करने के लिये वेदी प्रतिष्ठा का शुभ मुहूर्त फाल्गुन शुक्ला २, तारीख १३-३-१९६७ का निकाला है। इस अवसर पर आचार्यकल्प श्री पंडित टोडरमलजी सा० के स्वर्गवास को लगभग २०० वर्ष पूर्ण होने के कारण द्विशताब्दी समारोह मनाने का आयोजन है।

अहो..., हमारे जयपुर नगर को महापुरुष श्री टोडरमलजी की साधना भूमि बनने का सौभाग्य और सुअवसर मिला था। जिससमय श्री टोडरमलजी सा० सम्यक्त्व उत्पादक एवं मिथ्यात्व छेदक, भवभेदक अपनी दिव्य वाणी के द्वारा उस नगरी में धर्म प्रकाश करते होंगे, उस समय वहाँ चतुर्थ काल ही वर्त रहा होगा।

पूज्य स्वामीजी ! आप अब मात्र सौराष्ट्र की ही धरोहर नहीं रहे हैं। आप सारे भारतवर्ष एवं समस्त जैन शासन की महान विभूति हैं। आपका सारे मुमुक्षु जगत पर महान-महान उपकार है, तो सारे मुमुक्षु जगत का भी आपके ऊपर अधिकार है। आपने तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रार्थ पधारकर उत्तर भारत के एक बार के भ्रमण में ही सारे धार्मिक जगत में एक प्रशस्त क्रांति उत्पन्न कर दी, और गाँव-गौव में आज स्वाध्याय की प्रवृत्ति जोरों से चल पड़ी है।

अत: हम सब हिन्दी भाषी क्षेत्र के प्रतिनिधि के रूप में राजस्थान के प्रमुख नगर जयपुर के वासी आपसे निवेदन करने उपस्थित हुए हैं कि—जिसप्रकार से दक्षिण भारत को आपके पदार्पण का दो बार लाभ मिला है, उसीप्रकार तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजी पर आई हुई धार्मिक बाधा को दूर हो जाने के उपलक्ष्य में उक्त तीर्थराज की—एकबार फिर यात्रार्थ पधारकर हिन्दी भाषी क्षेत्र के वासी धर्म जिज्ञासु जगत को आपके द्वारा सर्वज्ञ वीतराग कथित प्रदत्त धार्मिक रुचि को प्रोत्साहन प्रदान करें, एवं हमारे जयपुर नगर में श्री टोडरमलजी सा० के द्वारा अंकुरारोपण किया हुआ यथार्थ मार्ग, जो आज मुर्झाया हुआ पड़ा है, उसको आप हमारे उत्सव से ८ दिन पहिले पधारकर एवं आपकी जन्म जयंति हम मना सकें वहाँ तक का सौभाग्य प्रदान कर, आपकी अमृतवाणी के द्वारा सिंचन कर पुन: जागृत करें। आशा है अनेक नगरों से पधारे हुए हिन्दी भाषी मेरे भाई मेरे इस निवेदन का समर्थन करेंगे। पूज्य स्वामीजी महाराज से नम्र निवेदन है, हमारी प्रार्थना को पूर्ण रूप से स्वीकार कर अनुगृहीत करेंगे।

भारतवर्ष के समस्त मुमुक्षु भाई-बहिनों को व समस्त मुमुक्षु मंडलों को मेरा अत्यंत प्रेमपूर्वक निमंत्रण व आमंत्रण है कि—आप सब सकुटुंब अपने इष्ट मित्रों सहित पूज्य स्वामी को साथ लेकर इस पुनीत अवसर पर पधारकर हमारे इस कार्य को सफल बनावें।

निवेदक—

पूरनचंद एवं गोदीका परिवार

एवं

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, जयपुर

जयपुर से शिष्ट मंडल सोनगढ़

सोनगढ़, तारीख ६-९-९९ (यह समाचार भी देर से पहुँचे। अतः गतांक में छपने से छूट गये थे।)

जयपुर में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी स्मृति भवन का उद्घाटन फाल्गुन सुदी २, १३-४-६७ का निकला है। उसके लिये पूज्य कानजीस्वामी को निमंत्रण देने के लिये जयपुर से करीब १३५ व्यक्तियों का एक शिष्ट मंडल तारीख ५-९-६६ को सोनगढ़ पहुँचा। श्री सेठ पूरनचंदजी गोदीका अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंडल, जयपुर द्वारा पूज्य कानजीस्वामी की सेवा में उस स्मृति भवन का उद्घाटन करने के लिये सादर निमंत्रण पत्र पढ़कर सुनाया गया, जिसका सभी उपस्थित समुदाय ने हृदय से पूर्ण समर्थन किया। श्री नेमीचंदजी पाटनी ने जयपुर के प्रमुख व्यक्तियों का परिचय दिया, जयपुर के प्रमुख कवि श्री प्रसन्नकुमारजी सेठी ने सुंदर कविता के रूप में आमंत्रण पढ़कर सुनाया, जिसकी सबने सराहना की।

उत्तर गुजरात में से श्री बाबूभाई महेता आदि करीब १७५ संख्या में इस अवसर पर तथा जैनदर्शन शिक्षणवर्ग में सम्मिलित होने के लिये आये थे। शिक्षण शिविर में भाग लेनेवालों की संख्या ३५० तक हो गई थी। भोपाल से श्री मिश्रीलालजी गंगवाल, योजनामंत्री म०प्र० तथा इंदौर के अन्य प्रमुख व्यक्ति लगभग ३०-३५ संख्या में पधारे थे, बड़ा मेला सा लग गया था, असाधारण धर्म प्रेम, वात्सल्य, उत्साह और पूज्य स्वामीजी के द्वारा सर्वज्ञ वीतराग कथित अपूर्व प्रवचनों की धारा... जो देखते ही बनता था। *डॉ० ताराचंद बक्सी, जयपुर*

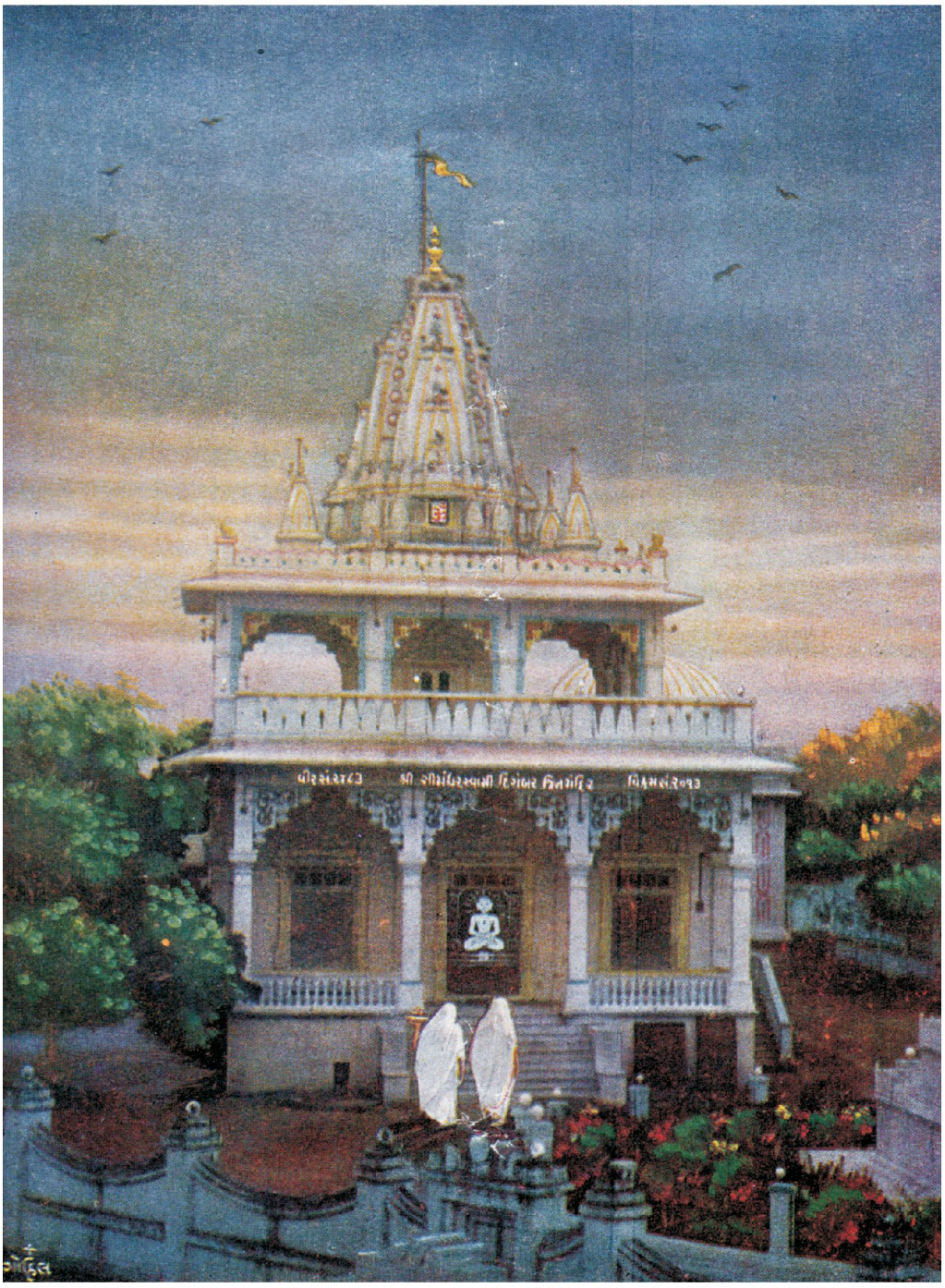

सोनगढ़-सुवर्णपुरी (सौराष्ट्र) में नूतन जिन मंदिर

[जो पुराना जिनमंदिर था, उसे ही सुंदर बनाया गया है]

गत श्रावण मास में जैन शिक्षण वर्ग में महत्त्वपूर्ण धर्म प्रभावना

सोनगढ़- तारीख २१-८-६६ से ९-९-६६ हर साल माफिक श्रावण मास में जैनधर्म शिक्षण शिविर होता है। इस बार तो गुजरात, म०प्र०, उ०प्र०, राजस्थान और महाराष्ट्र के ३५० करीब जिज्ञासु धर्मबंधु आये थे; उनमें अधिक संख्या में तो शास्त्र के अभ्यासी और अपने-अपने गाँव के अग्रणी व अग्रणी समान थे। शिक्षण कक्षा में बहुत उत्साहपूर्वक अपूर्व लगन से लाभ ले रहे थे। शिक्षण कक्षा के समय के उपरांत काल में सर्वत्र तत्त्वचर्चा, पठन, मनन और अनेक मंडली के रूप में स्वाध्याय वांचन द्वारा धर्ममय अनोखा वातावरण फैल रहा था। सवेरे चार बजे देखो तो भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रवचन मंडप तत्त्वचर्चा से गूंज उठा... कोई सामायिक कर रहे हैं, कोई स्वाध्याय, कोई चर्चा, कोई पढ़ रहे हैं; कोई २५-५० जनों को पढ़ा रहे हैं। ५ बजते ही सैकड़ों जिज्ञासु जिनमंदिर में दर्शन कर रहे हैं। ०५-५० स्वामीजी के पास दर्शन करके जंगल में समूह के रूप में चर्चा करते-करते जाते हैं, वहाँ कोई तो पूज्य स्वामीजी के साथ, कोई श्री रामजीभाई के साथ एक घंटा तक विविधचर्चा में उपयोग लगाते हैं। भिन्न-भिन्न गाँव के साधर्मियों का यह धर्म-वात्सल्यमय मिलन का अनोखा दृश्य देखने में आता था।

दूसरी ओर सेवेर ६.१५ होते ही जिनमंदिर में मंगल अभिषेक के घंटनाद गूंजते हैं और सैंकड़ों भाई-बहिनें उमंगपूर्वक जिनेन्द्र पूजन की तैयारी कर रहे हैं; सात बजे जिनमंदिर के ऊपर की मंजिल पर भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु के सन्मुख तालबद्ध आलाप सहित पूजन चलती है; यह कार्यक्रम पूर्ण होते ही नीचे भगवान श्री सीमंधरनाथ सन्मुख समूह पूजन शुरु होता है, कोई समवसरण जिनमंदिर में तो कोई मानस्तंभ के सामने चारों दिशा में पूजन कर रहे हैं। ठीक ७.४५ पर पूजन विधि पूर्ण होकर तुरंत ही प्रवचन मंडप में सभा ठसाठस भर जाती थी। आठ में ८ मिनिट कम होने पर वहाँ श्री जिनवाणी की समूह स्तुति शुरु होकर बराबर सवेरे आठ बजते ही मंगलाचरण पूर्वक स्वामीजी का प्रवचन शुरु होता है। सभी श्रोतागण एकाग्रचित्त से सावधान होकर श्रवण करते हैं। आश्रय करने योग्य भूतार्थ स्वभाव क्या है, उसका अनुभव कैसे हो, सुख और सुख के उपाय क्या हैं, भूल क्या है, यह ज्ञानधारा पूज्य कानजीस्वामी एक घंटे तक बरसाया करते हैं। हिन्दी भाषा श्रोताओं को ऐसा लगता है कि स्वामीजी हमारी भाषा

में बोल रहे हैं और गुजराती भाषी को ऐसा लगता है कि हमारी भाषा में बोल रहे हैं। बराबर नौ बजते ही प्रवचन समाप्त होने के पश्चात् कभी दान की प्रसिद्धि और कभी भजन बोले जाते, जिनमंदिर में दर्शकों की भीड़ लग जाती; पुस्तक विभाग आदि दफ्तर भी पूरे दिन बहुत प्रवृत्तिमय रहते; सवा नौ बजने पर शिक्षण कक्षा का वर्ग शुरु हो जाता; दिन में दो बार शिक्षणवर्ग चलता था।

किसी को ऐसा लगे कि रात-दिन का विविध कार्यक्रम होने से दोपहर को भोजन के बाद आराम से सो जाते होंगे? किंतु नहीं, बारह बजे भूतपूर्व श्राविकाशाला नामक अतिथि हॉल में री बाबूभाई फतेपुर निवासी के पास बड़ी संख्या में जिज्ञासुगण पहुँच जाते, प्रवचन मंडप में चक्कर लगाकर देखो तो कितनेक भाई एकांत में सामायिक कर रहे हैं, कोई पढ़ रहे हैं, कोई शिक्षण कक्षा में पढाये गये विषयों को कापी में नोंध कर रहे हैं, कोई परस्पर चर्चा कर रहे हैं, कोई वृद्धजन आराम भी कर रहे हैं। दो बजते ही फिर सभा मंडप भर जाने लगता है, प्रवचन शुरु होने से पूर्व तो अनेक विध चर्चा-वार्ता से प्रवचन मंडप गूंजता रहता है, किंतु जहाँ ढाई बजने की घंटी बजी, एकदम शांति-मय-शांत... वातावरण और २.०० से ३.०० बजे तक एक घंटा जिनवाणी की मेघवर्षा बरसती है...

बहुत संख्या में जिज्ञासु प्रवचन के समय प्रवचन को नोट (नोंध) कर लेते हैं, ३.०० बजे प्रवचन पूर्ण होने पर सब लोग जिनमंदिर में सामूहिक भक्ति के कार्यक्रम में आ जाते हैं। जिनमंदिर विशाल होने पर भी ठसाठस भर जाता है, बाहर दालान, सोपान पर भी जगह नहीं बचती और सीमंधर भगवान के सन्मुख भक्ति की धुन लगती है, कभी आये हुए भक्त गायक मेहमानों के द्वारा और कभी पूज्य बहिन श्री बेनजी के द्वारा अद्‌भुत भक्ति रस बहाया जाता है, उसमें सब एक तान हो जाते हैं, कभी भजनसागरजी भैया आदि नये-नये भक्तजन भी भजन बोलते हैं और सब एक तान होकर झूमने लगते हैं... तबले-बाजे ताली-आदि से जिनमंदिर गूंज उठता है, सवा चार बजे भक्ति का कार्यक्रम पूर्ण होने के पश्चात् १० मिनिट में डाक-पोस्ट आदि देखने के कार्य से शीघ्र निवृत्त होकर ४०० ज्ञानार्थिजन फिर शिक्षण कक्षाओं में अपने-अपने स्थान पर पढ़ने के लिये बैठ जाते हैं। ५.०० बजे शिक्षण वर्ग में से छूटकर जैन अतिथि सेवा समिति में भोजन के लिये जाते हैं, भोजन के बाद धर्म जिज्ञासुगण कुछ तो घूमने के लिये चले जाते हैं, शेष जिज्ञासगुण स्वामीजी के पास स्वाध्याय मंदिर की दालान में सैकड़ों की

संख्या में बैठ जाते हैं... वहाँ अनेक विध चर्चा में कभी-कभी विदेहक्षेत्र की अपूर्ववार्ता भी सुनने को मिलती है, उस समय एक घंटे में बाहर गाँव से आये हुए साधर्मीजन अपने गाँव में धर्म तत्त्व के बारे में क्या-क्या चल रहा है आदि वार्ता भी करते हैं, और पूज्य स्वामीजी के संपर्क द्वारा हृदय की समीपता-निकटता सब कोई पाकर अपना प्रमोद व्यक्त करते रहते हैं।

रात्रि के सात बजते ही पूज्य स्वामीजी वहाँ से उठकर एकांत में ध्यानस्थ आसन बैठ जाते हैं। जिनमंदिर में उस समय के पूर्व आरती का कार्यक्रम समाप्त हो जाता है, आरती में घी रहित नयी जाति के रत्न दीपक जैसी आरती उतारने में आती है, पश्चात् कोई शांतमन होकर भक्ति करे, कोई चर्चा-सामायिक और चिंतन करे। जिनमंदिर की छत पर या दालान, या स्वाध्याय मंदिर के विशाल चौक में, वृक्ष के नीचे चबूतरे पर इस प्रकार जहाँ तहाँ बैठक है, वहाँ सर्वत्र मुमुक्षुगण प्रसन्नता सहित बैठे हुए कोई तत्त्व चर्चा करते देखने में आते हैं, रात्रि के आठ बजते ही रात्रिचर्चा (प्रश्नोत्तर) की सभा में पूरा स्वाध्याय मंदिर भर जाता है और दिन में प्रवचन तथा शिक्षण में आये हुए विषयों का पुनरावर्तन, अनेकविध प्रश्नोत्तर तथा प्रसंग के अनुसंधान में अनेक वर्ष पूर्व के विविध संस्मरण स्वामीजी सुनाते हैं, स्वानुभव की वार्ता के समय स्वामीजी की मुद्रा जो देखते ही बनती है, एक घंटा तो कहाँ खतम हुआ पता नहीं लगता, चर्चा पूर्ण होते ही... चर्चा में क्या आया, उसकी परस्पर चर्चा करते-करते सब निवास स्थान पर पहुँच जाते हैं, जाहिर कार्यक्रम समाप्त हो जाता है किंतु धर्म जिज्ञासुगण फिर भी उकताते नहीं किंतु स्थान-स्थान पर मंडली के रूप में एकत्र होकर रात्रि के ११ बजे तक तत्त्वचर्चा करते हैं, कोई कापी में नोंध कर रहे हैं, कोई पढ़ रहे हैं। इसीप्रकार प्रतिदिन सवेरे ४ बजे से रात्रि के ११ बजे तक कार्यक्रम चालू रहता है, अबकी बार इंदौर और भोपाल से बड़ी संख्या में अग्रणी साधर्मीबन्धु शिक्षणवर्ग में आये थे।

शिक्षण वर्ग के अवसर पर भाद्र० बदी ५ से ९ तक जयपुर से शिष्टमंडल के रूप में १४० संख्या में मुमुक्षुजन पधारे, साथ में म०प्र० के योजना मंत्री श्री मिश्रीलालजी गंगवाल भी आये थे, श्री पूनमचंदजी गोदीका जो पंडित श्री टोडरमलजी स्मृति भवन आदि का आयोजन जयपुर में कर रहे हैं। उन्होंने जयपुर मुमुक्षु मंडल के द्वारा पूज्य कानजीस्वामी को फाल्गुन मास में जयपुर पधारने की विनती की—पंडित टोडरमलजी स्मृति भवन का उद्घाटन तथा चैत्यालय में जिनेन्द्र प्रतिमा-वेदी प्रतिष्ठा का मुहूर्त फा० सुदी २ (सं०२०२३) का है; और

वर्तमान कार्यक्रम के अनुसार पूज्य स्वामीजी ने वहाँ फा० बदी १० रविवारी को पहुँचने की स्वीकृति दी है।

जयपुर के १४० उपरांत, जैन शिक्षण शिविर के ३५० मुमुक्षु सोनगढ़ के वातावरण से बहुत प्रसन्न थे, बड़े यात्रा धाम, वात्सल्यपूर्ण साधर्मियों का मेला जैसा दिख रहा था, सप्तमी के दिन बंबई निवासी भाई श्री माणिकचंद कस्तुरचंद ने धर्मपत्नी सहित आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की, रात्रि को लव-कुश का वैराग्य प्रसंग संवाद ड्रामा दिगम्बर जैन विद्यार्थी गृह ने सुंदर ढंग से दिखाया, बदी ९ श्री जिनेन्द्रदेव की भव्य रथयात्रा थी श्री बाबूभाई भी थे, उस उत्साह आनंद की क्या बात! भा० बदी ९ तारीख ९-९-६६ शिक्षण वर्ग का अंतिम दिन था... शिक्षार्थियों में से अग्रणी वक्ताओं ने पूज्य स्वामीजी तथा शिविर में शिक्षणदाताओं के प्रति आभार व्यक्त किया, गदगद होकर हृदय की भावना प्रगट की, उस समय पंडित श्री बंसीधरजी न्यायालंकार इंदौर ने भी अपना वक्तव्य दिया था। इसप्रकार जिनेश्वर भगवान प्रणीत तत्त्वज्ञान की शिक्षा का कक्षा रूप यह ज्ञानयज्ञ तत्त्वरसिक आत्मार्थिजनों द्वारा इस साल विशेष उत्साहजनक संपन्न हुआ। *(ब्रह्मचारी हरिभाई द्वारा प्राप्त समाचार)*

सुवर्णपुरी समाचार

परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी सुख शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में दसलक्षण पर्यूषण पर्व में स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में से दस धर्म और पश्चात् समयसारजी शास्त्र दोनों समय चलता था। अब सवेरे समयसारजी गाथा १४वीं चलती है तथा दोपहर को कर्ताकर्म अधिकार चालू है। इस बार दस लक्षण पर्व में बाहर गाँव से आनेवालों की संख्या जदा थी खास मेहमानों में सहारनपुर से धार्मिक समाज के अग्रणी श्री जिनेश्वरप्रसादजी आदि १९ भाई-बहनें आये थे, सागर निवासी शेठ श्री भगवानदास सोभालाल आदि आये हैं। आदरणीय श्री पंडित बंशीधरजी न्याय अलंकार इंदौर से सत् संगति हेतु ही तीन मास से आये हुए हैं।

दस लक्षण के अवसर में जिनेन्द्र रथयात्रा व्रत-व्रतोद्यापन, समूह पूजा-भक्ति, धर्मचर्चा, आदि कार्यक्रम चलता था और श्री कुन्दकुन्द प्रवचन मंडप में स्वामीजी का पवित्र अध्यात्म रसास्वाद से भरा हुआ प्रवचन जो धर्म जिज्ञासुओं के लिये परम उपकारभूत है, चलता था।

स्वामीजी का विशेष समाचार

विक्रम सं० २०२३ मगसर सुदी ११ पालेज (गुजरात भरूच) में जिनमंदिर की दसवीं वर्षगाँठ मनाने की भावना से पालेज निवासी भाई आये थे, जिसके लिये स्वामीजी ने स्वीकृति दे दी है। वर्तमान बने कार्यक्रमानुसार मंगसर सुदी १ सोनगढ़ से अहमदाबाद, बड़ोदा, मीआंगाम होकर मंगसर सुदी ४ से ११ आठ दिन का कार्यक्रम विचारने में आया है। वहाँ से स्वामीजी सोनगढ़ पधारेंगे विशेष कार्यक्रम योग्य समय अनुसार आगामी अंक में सूचित करेंगे।

उन्हें वंदना हमारी है

दशा है हमारी एक चेतना विराजमान,
आन परभावन सो तिहुंकाल न्यारी है;
आपनो स्वरूप शुद्ध अनुभवे आठों जाम,
आनंद को धाम गुणग्राम विसतारी है,
परम प्रभाव परिपूरण अखंड ज्ञान,
सुख को निधान लखि आन रीति डारी है;
ऐसी अवगाढ गाढ़ आई परतीति जाके,
कहे 'दीपचंद' ताको वंदना हमारी है।

[—ज्ञान दर्पण-५]

'हमारी दशा एक चेतनारूप से ही विराजमान है तथा अन्य परभावों से त्रिकाल भिन्न है'—इसप्रकार जो अपने स्वरूप का आठों पहर शुद्ध अनुभव करते हैं; आनंद के धाम गुण समूह का जिन्होंने विस्तार किया है; परम प्रभावरूप परिपूर्ण अखंड ज्ञान और सुख के निधान को देखकर जिन्होंने अन्य (परभाव की) रीति छोड़ दी है—ऐसी अवगाढ़ दृढ़ प्रतीति जिनको हुई है, उन्हें हमारी वंदना है।

मोक्षमार्गप्रकाशक (नवीन प्रकाशन)

आचार्यकल्प श्री पंडित टोडरमलजी रचित स्व हस्तलिखित प्रति से आधुनिक राष्ट्रभाषा में परिवर्तन कराकर ११००० प्रतियाँ छप रही हैं। सुन्दर बाइंडिंग, बड़े टाइप में, लागत मूल्य ४.५० होने पर भी दो रुपया मूल्य रखा गया है – एक मास में छपकर तैयार हो जावेगा।

समयसार कलश टीका (राजमलजी पांडे रचित)

दूसरी आवृत्ति करीब २० दिन में छपकर तैयार हो जावेगी। मूल्य २.७५ मात्र है।

● 'चिद्विलास' आधुनिक भाषा में छपने की तैयारी में है।

नया प्रकाशन

श्रीमत्भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

श्री नियमसारजी शास्त्र (दूसरी आवृत्ति)

सर्वज्ञ वीतराग कथित महान आध्यात्मिक भागवत् शास्त्र, ११ वीं शती के अध्यात्मरस के सर्वोत्तम कवि शिरोमणि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिवरकृत संस्कृत टीका तथा अक्षरशः प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद सहित शास्त्र, जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से मांग है, पूर्णरूप से संशोधित, यह ग्रंथ महान, अनुपम, पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५, बड़ी साइज में, रेगजीन कपड़े की सुन्दरतम जिल्द मूल्य बहुत कम कर दिया है। मात्र ४/– पोस्टेजादि अलग। देश–विदेश में, कोलेज–विश्वविद्यालयों में–सर्वत्र सुंदर प्रचार के योग्य अत्यंत सुगम और सब प्रकार से सुंदर ग्रंथ है। जिज्ञासुगण शीघ्र ओर्डर भेजें।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

श्री समयसार शास्त्र	५–०
श्री प्रवचनसार शास्त्र	४–०
श्री नियमसार शास्त्र	४–०
श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र	३–५०
समयसार प्रवचन, भाग १–२–३	अप्राप्य
समयसार प्रवचन भाग ४	४–०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]	
आत्मप्रसिद्धि	४–०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०), पृष्ठ–९००	५–०
स्वयंभू स्तोत्र	०–५०
मुक्ति का मार्ग	०–५०
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१–०
'' ''द्वितीय भाग	२–०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १–२–३	०–६०
योगसार–निमित्त उपादान दोहा, बड़ा टा.	०–१२
श्री अनुभवप्रकाश (दीपचंद्रजी कृत)	०–३५
श्री पंचमेरु पूजा संग्रह आदि	१–०
बृ.दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन पूजा	०–७५
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६–०
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१–५०
मोक्षमार्गप्रकाशक (श्री टोडरमलजी कृत) आधुनिक भाषा में	प्रेस में
समयसार कलश टीका (पं. राजमल्लजी पांडे कृत) आधुनिक भाषा में	प्रेस में

[डाकव्यय अतिरिक्त]

जैन बाल पोथी	०–२५
छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०–१५
छहढाला (नई सुबोध टी.ब.) सचित्र	१–०
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	प्रेस में
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१–८५
जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१–४५
अपूर्व अवसर अमर काव्य पर प्रवचन प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा व लघु सामा. प्रेस में	
भेदविज्ञानसार	२–०
अध्यात्मपाठ संग्रह	४–०
वैराग्य पाठ संग्रह	१–०
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०–१५
स्तोत्रत्रयी	०–५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०–२५
'आत्मधर्म मासिक' इस एक वर्ष के लिये	२–०
'' पुरानी फाईलें सजिल्द	३–७५
शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०–१२
जैनतत्त्व मीमांसा	१–०
बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में ग्रन्थ का मात्र	१८) ६–०
अभिनंदन ग्रंथ	७–०

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।